1. आदिकाल

(सन् 993 ई० से 1318 ई० तक)

हिन्दी साहित्य की पूर्व पीठिका :–

हिंदी भारत में सर्वाधिक बोले जाने वाली भारतीय आर्य भाषाओं में सर्वोपरि है। भारतवर्ष को प्राचीन काल में आर्यावर्त के नाम से जाना जाता था और यहाँ के निवासियों को आर्य तथा आर्यों द्वारा बोले जाने वाली भाषाओं को आर्य भाषाओं के नाम से जाना जाता था। पृथ्वी के मानचित्र में भारत की स्थिति एक प्रायद्वीप के समान है। इसके उत्तर में हिमाच्छादित हिमालय तथा सुदूर दक्षिण में अथाह अपार सागर हिलोरें ले रहा है, जिसकी महान् संस्कृति ने वैदिक संस्कार, सदाचार एवं सुव्यवस्थित सुदृढ़ सामाजिक परम्पराओं को जन्म दिया है। सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा गुण है। जो समुद्र की भाँति अनेक नदियों की धाराओं को अपने अन्दर धारण करने की क्षमता रखती है। यहाँ अनेक जाति धर्म के लोगों ने आक्रमण किया, किन्तु सब मिट गए और भारतीय संस्कृति आज भी अमिट है। यह संस्कृति हमारी परम्पराओं को नवजीवन प्रदान करती है, जिसके फलस्वरूप आज भी यह नवनूतन लगती है। यहाँ राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक सभी परिस्थितियों में उतार–चढ़ाव आए, किन्तु इसकी सहिष्णुता की नीति से यह सदैव विजयी रही है। हिन्दी साहित्य में भक्ति, वीर और शृंगार का त्रिवेणी संगम दृष्टिगोचर होता है। इसमें भक्ति की धारा के संग ओजस्वी शैली के रासो साहित्य तो कहीं महाकवि बिहारी की नायिका का अद्भुत शृंगार और कहीं घनानन्द के वियोग भरे कवित्त के साथ–साथ भूषण का राष्ट्रप्रेम उजागर होता है। भारत की इस पावन भूमि में धर्म, संस्कृति और संस्कारों की अजस्र धारा प्रवाहित होती है, जो जनजीवन को अमृतमय जीवन प्रदान कर रही है। यहाँ के कवि लेखक स्वान्तःसुखाय के साथ–साथ परिजन हिताय साहित्य का सृजन करते हैं । कवियों में तुलसी, सूर, जायसी और कबीर अपनी वाणी से जनसमूह को भक्ति और प्रेम की धाराओं से आनन्दित करते हैं तो भारतेन्दु, प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद अपने साहित्य के द्वारा राष्ट्रप्रेम को अभिव्यक्त करते हैं । इस प्रकार के गौरवान्वित साहित्यकारों पर हम भारतीयों को गर्व है क्योंकि साहित्य को ''सुरसरि सम सब कर हित होई '' बताया जाता है ।

हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति –

हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के ''सिन्धु'' शब्द से मानी जाती है । सिन्धु नदी के आस–पास का क्षेत्र सिन्धु प्रदेश कहलाता था । ईरान (फारस) की तरफ से भारत में आने वाले विदेशी आक्रमणकारी हिन्दुकुश पहाड़ी मार्ग को पार करके जब सिन्धु प्रदेश में आए तो उन्होंने सिन्धु प्रदेश को हिन्द प्रदेश कहा; क्योंकि ईरानी (फारस) भाषा में शब्द की प्रथम 'स' ध्वनि को 'ह' ध्वनि में उच्चारित करते हैं । अतः सिन्धु प्रदेश को हिन्दप्रदेश कहने लगे और वहाँ के निवासियों को सिन्धु के स्थान पर हिन्दु कहने लगे। यही सिन्धु की भाषा हिन्द कहलाने लगी और आगे चलकर ईरानी भाषा का ईक प्रत्यय लगने के कारण हिन्द + ईक –हिन्दीक बन गया जिसका अर्थ हिन्द का हुआ । यही शब्द धीरे–धीरे परिवर्तित होकर हिन्दीका हुआ जो अंग्रेजी भाषा के

रूपान्तरण के कारण 'इण्डिया' बन गया । आज यह ''इण्डिया'' समस्त भारतवर्ष का सूचक बन गया है।

हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास –

भारतीय भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है । ऋग्वेद की भाषा संस्कृत थी, किन्तु समयचक्र सदैव गतिमान होने के कारण परिवर्तनशील है । अतः भाषा भी धीरे–धीरे अनेक रूपों में परिवर्तित होने लगी । संस्कृत भाषा का समय 1500 ईसा पूर्व से 500 ईसा पूर्व का रहा । यह दो प्रकार की थी । पहली वैदिक संस्कृत जिसमें वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण एवं दर्शन आदि की रचना हुई व दूसरी लौकिक संस्कृत जिसमें रामायण और महाभारत इत्यादि की रचना हुई । यही लौकिक संस्कृत बोलचाल की भाषा के रूप में विकसित हुई और धीरे–धीरे पाली भाषा के रूप में प्रचलित हुई । जिसका समय 500 ईसा पूर्व से ईसा की पहली शताब्दी तक माना गया। इस भाषा में बौद्ध धर्म के विनयपिटक, सूत्तपिटक, अभिधम्मपिटक एवं जातक कथाओं की रचना हुई, किन्तु भाषा के दो रूप सदैव प्रचलित रहे । पहला रूप साहित्यिक, दूसरा लौकिक अर्थात् बोलचाल की भाषा । लौकिक भाषा में धीरे–धीरे साहित्यिक रचनाएँ होने लगती हैं । जब कोई भाषा कवि और लेखकों का आश्रय पाकर नवीन भाषा में परिवर्तित हो जाती है तो साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है । पाली भाषा में भी ऐसा ही हुआ । वह समय के अनुसार प्राकृत का रूप धारण करने लगी । प्राकृत का समय ईसा की पहली शताब्दी से लेकर 500 ईस्वी के बाद तक रहा । इस काल में जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में रचा गया । प्राकृत के समय जनपदों में क्षेत्रानुसार भाषा का प्रचार हुआ । यहीं से प्राकृत भाषा अपभ्रंश के रूप में प्रसारित हुई । विद्वानों ने प्राकृत भाषा के अन्तिम चरण में अपभ्रंश का उद्‌भव माना है क्योंकि तत्कालीन प्रचलित शब्दों से यह पता चलता है कि प्राकृत के उत्तरार्द्ध में शब्दों में विकृति (बिगड़ना) आना शुरू हो गया । जैसे गाथा शब्द गाहा और दोहा शब्द दूहा के रूप में परिवर्तित हो गए। अपभ्रंश के समय देशी भाषायुक्त थोड़ी सरलता एवं मधुरता वाली भाषा का भी अभ्युदय हुआ उसे ''अवहट्‌ठ'' भाषा कहने लगे। मैथिल कोकिल विद्यापति ने इसी भाषा में अपनी दो रचनाएँ लिखी। पहली ''कीर्तिलता'' और दूसरी ''कीर्तिपताका'' ये दोनों अवहट्‌ठ की कृतियां हैं ।

जैसे :–

देसिल बअना सब जन मिट्‌ठा ।
ते तैसन जपहो अवहट्‌ठा ।।

अपभ्रंश भाषा के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों एवं बोलियों से ही हिन्दी भाषा का उद्‌भव हुआ । अपभ्रंशभाषी कवियों एवं दार्शनिकों, सिद्‌धाचार्यों, जैनाचार्यों एवं नाथ समुदाय के अनुयायियों से ही अपभ्रंश भाषा का प्रचार एवं प्रसार हुआ । हर्षवर्द्धन के शासन काल के पश्चात् अपभ्रंश का प्रचार तेज गति से बढ़ा । अतः हिन्दी का प्रारम्भिक काल अपभ्रंश साहित्य में ही दिखाई दिया।

इसी काल के चौरासी सिद्धों में हिन्दी का रूप निखर करके आया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को ग्राम्य अपभ्रंश का विकसित रूप माना है। तत्कालीन सिद्‌धाचार्यों ने लोक भाषा में ही लिखना प्रारम्भ किया, क्योंकि कोई कविता या काव्य रचना जनभाषा में लिखने से ही बहुश्रुत

बनती है और ख्याति प्राप्त करती है । अपभ्रंश भाषा के हेमचन्द्राचार्य ने सबसे पहले अपभ्रंश भाषा का व्याकरण ''शब्दानुशासन'' लिखा, किन्तु हेमचन्द्राचार्य से पूर्व ही सिद्धाचार्यों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर दी थीं । अपभ्रंश भाषा का इतिहास बताता है कि हिन्दी अपभ्रंश के आँचल में पली बढ़ी। यही प्रारम्भिक हिन्दी की बुनियाद है। उदयनारायण तिवारी ने लिखा, आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय 15वीं शताब्दी के पूर्व तक का काल संक्रान्ति काल था। जिसमें भारतीय आर्य भाषाएँ धीरे–धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थीं। मिश्रबंधुओं ने अपने ''मिश्रबंधु विनोद'' में हिन्दी साहित्य के आदिकाल की विवेचना करते हुए अपभ्रंश के साहित्य को प्रधान स्थान दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश और प्राकृत की अन्तिम अवधारणा से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है,देश धीरे–धीरे इतना बढ़ा कि 13वीं सदी तक आते–आते अपभ्रंश के सहारे से ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट कर लिया । इसके भौगोलिक परिप्रेक्ष्य को देखें तो लगता है हिन्दी का क्षेत्र दो भागों में बँट गया । प्रथम पश्चिमी हिन्दी और द्वितीय पूर्वी हिन्दी । अपभ्रंश का साहित्य हिन्दी के जन्म का कारण बना । हिन्दी साहित्य की परम्परा को देखें तो डॉ. नगेन्द्र के अनुसार अपभ्रंश से ही क्षेत्रीय रूपों में परिवर्तित होने वाली बोलियों से हिन्दी का रूप विकसित हुआ है । अपभ्रंश अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची, ब्राचड़, महाराष्ट्री, मागधी और अर्धमागधी के रूपों में प्रसारित हो रही थी। इनकी उपभाषाएँ एवं मुख्य बोलियों से ही हिन्दी का उद्‌भव माना गया है। जिसका सामान्य परिचय इस प्रकार है । अपभ्रंश की क्षेत्रीय भाषाएँ जिनसे हिन्दी का उद्‌भव हुआ :–

1. शौरसेनी अपभ्रंश 2. मागधी अपभ्रंश 3. अर्धमागधी अपभ्रंश

शौरसेनी अपभ्रंश की उपभाषाएँ एवं बोलियाँ ।

उपभाषाएँ	**बोलियाँ**
1. पश्चिमी हिंदी	खड़ीबोली (कौरवी), ब्रजभाषा, बुन्देली, हरियाणवी (बांगरू), कन्नौजी
2. पूर्वी हिंदी	अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी
3. राजस्थानी	मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी
4. पहाड़ी	पश्चिमी पहाड़ी, मध्यवर्ती पहाड़ी
5. बिहारी	मैथिली, मगही, भोजपुरी

इस प्रकार हिंदी में पाँच उपभाषाएँ और अठारह बोलियाँ सम्मिलित हैं।

1. खड़ीबोली – पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में पहला स्थान खड़ी बोली का है । प्राचीन काल में हस्तिनापुर में कौरव वंश का शासन होने से इसको (कौरवी) भी कहते हैं। दिल्ली, गाजियाबाद, देहरादून, मुरादाबाद, सहारनपुर के आस पास के क्षेत्र में यह बहु प्रचलित बोली रही इसमें लोक नाटक, कहानी, लोककाव्य व गीत आदि की रचनाएँ हुई । यह देवनागरी लिपि में लिखी जाने लगी। मध्यकाल में आते–आते इसमें अरबी , फारसी के शब्द भी सम्मिलित हो गए

और यह हिन्दुस्तानी के नाम से जानी गई । इसमें संस्कृत की तत्सम शब्दावली का बाहुल्य है। यह ठेठ हिंदी की सबसे निकट की बोली है। वर्तमान में हिन्दी काव्य इस खड़ी बोली में ही लिखा जा रहा है ।

2. **हरियाणवी** – हरियाणा प्रदेश की बोली होने के कारण इसे हरियाणवी कहते हैं । यह चंडीगढ़ के आस–पास पटियाला, अम्बाला, हिसार व रोहतक के क्षेत्र में बोली जाती है । कहीं–कहीं इसमें पंजाबी भाषा का पुट भी आ गया; क्योंकि यह पंजाब प्रान्त के निकट है । यहाँ के लोक साहित्य में यह बहुत प्रचलित है, इसे ग्रामीण क्षेत्र में बाँगरू के नाम से भी जाना जाता है ।

3. **कन्नौजी** – कानपुर के आस–पास का क्षेत्र कन्नौज प्रदेश कहलाता है। इसका प्रभाव कानपुर, पीलीभीत, इटावा, शाहजहाँपुर, फर्रूखाबाद व हरदोई क्षेत्र में है । ब्रज भाषा के शब्दों के समान शब्द एवं बोलने का लहज़ा होने कारण इसको ब्रज जैसी ही समझते हैं ; किन्तु यह ब्रज भाषा से भिन्न है । यहाँ कान्यकुब्जी ब्राह्मणों का बाहुल्य था। इसलिए इसे कन्नौजी भी कहते हैं ।

4. **ब्रजभाषा** – ब्रज मण्डल मथुरा वृन्दावन की प्रमुख बोली होने के कारण इसे ब्रज भाषा कहते हैं । शौरसेनी अपभ्रंश का मध्यवर्ती रूप इसमें झलकता है, क्योंकि शूरसेन प्रदेश की यह प्रमुख बोली रही है। ब्रज का क्षेत्र विस्तार विशाल है–आगरा, अलीगढ़, बरेली, मथुरा, एटा, मैनपुरी, धोलपुर व भरतपुर आदि इस क्षेत्र में आते है। हिन्दी जगत में ब्रज का साहित्य अधिक लोक प्रिय होने कारण यह लोगों में बहु प्रचलित है। सूरदास, नन्ददास, केशव, बिहारी, धनानन्द, पदमाकर, देव तथा अष्टछाप व अन्य कवियों की रचनाएँ इसी ब्रजभाषा से मंडित है। यह मन को मोहने वाली मीठी बोली होने के कारण जनप्रिय हो गई ।

5. **बुन्देली** – बुन्देल राजाओं के बुन्देल खण्ड की बोली होने के कारण इसे बुन्देली कहते हैं। इसका प्रदेश ओरछा, झांसी, छतरपुर, सागर, ग्वालियर, होशंगाबाद व हम्मीरपुर के आस पास का क्षेत्र है। बुन्देली में लिखी गई ''आल्हा खण्ड'' एक सुप्रसिद्ध रचना है । उसकी ओजस्वी शैली मन मे जोश भर देती है, ''आल्हा'' की शब्दावली बुन्देली से काफी मिलती–जुलती है ।

6. अवधी – पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ में सबसे पहला स्थान अवधी का है । यह अयोध्या के आस–पास की बोली है । अयोध्या का वर्तमान नाम अवधप्रदेश है । तुलसी की 'रामचरितमानस' अवधी की प्रसिद्ध कृति है । इसका प्रसार अयोध्या, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, सीतापुर, फैजाबाद व बाराबंकी आदि क्षेत्रों है । तुलसी और जायसी इस भाषा के प्रसिद्ध कवियों में गिने जाते हैं । सूफी कवियों की रचनाएँ अवधी में ही रची गई हैं। जैसे :– मुल्लादाऊद की चन्दायन, कुतबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती व जायसी की पदमावत। ये रचनाएँ अवधी में ही रची गई हैं।

7. बघेली – रीवां क्षेत्र में कभी बघेल राजाओं का साम्राज्य रहा था । इसलिए इसे बघेल खण्ड के नाम से जानते हैं और यहाँ बोले जाने वाली बोली को बघेली कहते हैं । अर्धमागधी अपभ्रंश की पूर्वी हिन्दी से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। यह रींवा, सतना, मेहर, नागौद व जबलपुर में बोली जाती है । कुछ भाषा वैज्ञानिक इसे अवधी की एक उपबोली मानते हैं ।

8.छत्तीसगढ़ी – मध्यप्रदेश का कुछ हिस्सा छत्तीसगढ़ कहलाता है । इसे अलग राज्य का दर्ज़ा भी मिल गया है। यह बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग, काकेर एवं नंदगाँव के आस–पास बोली जाती है । छत्तीसगढ़ का लोकसाहित्य अपने आस–पास के अंचल में ही प्रचलित है । इसका कोई विशिष्ट साहित्य उपलब्ध नहीं है ।

9. मारवाड़ी – (पश्चिमी राजस्थानी) राजस्थान प्रदेश के पश्चिम क्षेत्र में मारवाड़ी के नाम से बोली जाती है । जैसे– जोधपुर, फलोदी, जैसलमेर, बीकानेर, नागौर, पाली, सिरोही, अजमेर व किशनगढ़ के कुछ हिस्से तक यह बोली जाती है। लोकसाहित्य में मीरा के पद तथा रासो साहित्य (डिंगल भाषा में) पाया जाता है ।

10. **जयपुरी** – (ढूंढाड़ी) राजस्थान के पूर्वी भाग जयपुर, टोंक, डिग्गी, मालपुरा, किशनगढ़ आदि में इसे ढूंढाड़ी कहते हैं। इसकी एक शाखा हाड़ौती के नाम से जानी जाती है, जो झालावाड़, कोटा, बाँरा (हाड़ौती क्षेत्र) में बोली जाती है । इसमें लोक साहित्य भी प्रचुर मात्रा में मिलता है ।

11. **मेवाती** – उत्तरी राजस्थान में मेव जाति के इलाके में यह प्रतिनिधि बोली है । इस प्रदेश को मेवात क्षेत्र भी कहते हैं । इसका विस्तार अलवर, भरतपुर, गुड़गाँव व करनाल आदि में हैं । मेवात प्रदेश की बोली होने के कारण इसे मेवाती कहते हैं । इसकी एक मिश्रित बोली भी है जिसे अहीरवाटी भी कहते हैं ।

12. मालवी – राजस्थान के दक्षिणी भाग मालवा प्रदेश में यह मालवी के नाम से जानी जाती है । इसका क्षेत्र उदयपुर, चितौड़गढ़, मध्यप्रदेश की सीमा से लगे इन्दौर, रतलाम, भोपाल, देवास, होशंगाबाद तथा उसके आस–पास का क्षेत्र है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का लोक साहित्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है ।

13. **भोजपुरी** – बिहार राज्य के भोजपुर क्षेत्र के आधार पर इस बोली का नामकरण किया गया । इसका विकसित रूप बनारस, शाहाबाद, आजमगढ़, गोरखपुर, बलिया, मिर्जापुर, जौनपुर, चम्पारण व सारण के आस–पास का क्षेत्र है। इसका मुख्यतः लोक साहित्य मिलता है, किन्तु हिन्दी जगत् के सितारे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र , प्रेमचन्द व जयशंकर प्रसाद इसी क्षेत्र के रहने वाले थे ।

14. **मगही** – बिहार के मगध प्रदेश की बोली होने के कारण इसका नाम मगही है । मागधी अपभ्रंश की यह विकसित बोली है । यह पटना, भागलपुर, हजारीबाग, गया, पलामू, के आस–पास बोली जाती है । इसमें लोक साहित्य बहुत लिखा गया है ।

15. **मैथिली** – यह मागधी अपभ्रंश की विकसित बोली है । इस का क्षेत्र मिथला प्रदेश होने के कारण इसे मैथिली कहा गया । यह दरभंगा, पूर्णिया, मुंगेर व मुजफ्फरपुर में बोली जाती है । यहाँ का साहित्य बहुत सम्पन्न है । यह वाणी मधुरता के कारण बहुत मीठी है । विद्यापति जैसे कवि यहाँ के रससिद्ध कवि थे । गोविन्ददास, हरिमोहन झा तथा रणजीत लाल इसके प्रसिद्ध साहित्यकार रहे हैं।

16. पश्चिमी पहाड़ी – यह शौरसेनी अपभ्रंश की विकसित बोली है । यह हिमाचल प्रदेश में शिमला, मण्डी, धर्मशाला व अम्बाला के आस–पास के क्षेत्र मे बोली जाती है ।

17. **मध्यवर्ती पहाड़ी (गढ़वाली, कुमाऊँनी)** – इस बोली का क्षेत्र गढ़वाल प्रदेश है । यह गढ़वाल व कुमाऊँ में बोली जाती है । छायावाद के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत इसी क्षेत्र के हैं । मध्यवर्ती पहाड़ी क्षेत्र की बोली होने के कारण इसे मध्यवर्ती पहाड़ी के नाम से जाना जाता है। यह शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हुई है । उत्तरांचल का कुमाऊँ क्षेत्र कुमाऊँनी बोली का क्षेत्र है। नैनीताल, अल्मोड़ा, रानीखेत में यह बोली जाती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रयोजन –

साहित्य के इतिहास लेखन का मूल प्रयोजन साहित्य की प्रवृत्तियों एवं उसकी उपलब्धियों को जनता तक पहुँचाना है। उसके आन्तरिक और बाह्म संघर्ष की गाथा को सरल व सुबोध भाषा में वर्णित करना है । साहित्य की प्रेरक शक्तियों के साथ आन्तरिक भाव सामन्जस्य बिठाना है तथा जीवन को गति प्रदान करने वाले साहित्य की समाज में क्या भूमिका है, उसे बतलाना एवं राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराना साहित्य इतिहास का प्रयोजन होता है । इतिहास शब्द 'इति' और 'हास' से बना है, जिसका अर्थ है "ऐसा–ही–था" यदि साहित्य के इतिहास को साहित्यिक दिग्दर्शन कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा, क्योंकि यह वर्तमान और अतीत के पक्षों को उजागर करता है और हिन्दी साहित्य के इतिहास में हिन्दी का मूल उद्‌गम और उसके क्रमिक विकास को समझाता है । साहित्य का इतिहास अपने विकास क्रम का अध्ययन करता है और समाज का ध्यान केन्द्रित करता है । साहित्य का कालक्रम, नामकरण, उसमें योगदान देने वाले कवि– लेखकों का सहयोग व तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करता है, जो समाज के लिए अतिआवश्यक है, क्योंकि उसके द्वारा विकास क्रम के सोपानों और स्तरों को आसानी से समझ सकते हैं । तत्कालीन कवियों की काव्य कला व भाषा शिल्प से परिचय होता है, जो आगामी पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक है । अतः साहित्य का इतिहास कवि एवं लेखकों की काल सम्बंधी विवेचना करते हुए उनकी कृतियों का भी विश्लेषण करता है । अतः साहित्य के इतिहास का मूल प्रयोजन विगत युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन करना है, क्योंकि साहित्य का इतिहास मानव की चित्तवृत्तियों का चित्रण तथा समसामयिक परिवेश का विवरण प्रस्तुत करता है । जिस प्रकार समाज साहित्य को प्रभावित करता है । ठीक उसी प्रकार साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है । इसीलिए साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के स्रोत –

इतिहास सदैव साक्ष्य की खोज करता है वह प्रमाणित साक्ष्य प्राप्त होने पर आगे बढ़ता है । यही उसकी आधार सामग्री है। यह साक्ष्य दो प्रकार के होते हैं। पहला अन्तःसाक्ष्य दूसरा बाह्य साक्ष्य । अन्तःसाक्ष्य के अन्तर्गत उपलब्ध सामग्री में आधारभूत कृतियों एवं ग्रंथों, कवि एवं लेखकों की फुटकर प्रकाशित एवं अप्रकाशित रचनाएँ होती है । बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत ताम्रपत्रावली, शिलालेख, वंशावलियाँ, जनश्रुतियाँ, कहावतें, ख्यात एवं वचनिकाएँ जैसी सामग्री होती है । जो तत्कालीन युग को परिलक्षित करती है । हिन्दी साहित्य में भी अंतः और बाह्य स्रोतों के माध्यम से इतिहास लेखन प्रारम्भ हुआ । जिसमें गोकुलनाथ द्वारा रचित चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताएँ, नाभादास कृत भक्तमाल, ध्रुवदास कृत भक्त नामावली एवं सन्तवाणी

संग्रह, भिखारीदास कृत ''काव्य निर्णय'' तथा अन्य कृतियाँ कविनामावली, मोदतरंगिनी, शृंगार संग्रह, हरिश्चन्द्र कृत 'सुन्दरी तिलक', मातादीन मिश्र का ''कवित्त रत्नाकर'' में कई कवियों की कविताओं का परिचय मिलता है । इस प्रकार अन्तः साक्ष्य प्रकाशित रचनाओं एवं अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह होता है । बाह्य साक्ष्य के माध्यम से इतिहासकार अपनी पैनी दृष्टि से तत्कालीन परिस्थितियों की खोज कर लेता है । कर्नल टॉड द्वारा लिखा गया राजस्थान का इतिहास में चारण कवियों का तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में अज्ञात कवियों एवं लेखकों का परिचय मिलता है । मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिन्दी के हस्त लिखित ग्रंथों की खोज की तथा हिन्दुओं के धार्मिक दर्शन के सिद्धांतों को निरूपित करते हुए उस समय के कवि लेखकों एवं आचार्यों के विचारों की भी समीक्षा की है । जनश्रुतियों से तात्पर्य है जनता में प्रचलित बातें जिसमें सत्य का अंश छिपा रहता है । यह कई वर्षों तक लोगों की जीभ पर रहती है, किन्तु धीरे–धीरे लिपिबद्ध हो जाती है । उनमें कवि की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का योग होता है तथा प्राचीन ऐतिहासिक शिलालेखों के आधार पर उस युग का चित्रण मिलता है । इस प्रकार की आधारभूत सामग्री के मूल स्रोतों के माध्यम से ही इतिहास लेखन होता है । अतः यह लिपि बद्ध होकर एक ऐतिहासिक ग्रंथ बन जाता है ।

हिन्दी साहित्य इतिहास के लेखन की परम्परा –

हिन्दी साहित्य की लेखन सामग्री प्राप्ति के पश्चात् विद्वानों ने इतिहास लेखन प्रारम्भ किया। हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास लेखन का श्रेय फ्रेंच भाषा के विद्वान् को जाता है । इसका नाम गार्सा द तासी था । इनका ''इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐंदुई–ए–ऐन्दुस्तानी'' नाम से 1839 में प्रथम भाग प्रकाशित हुआ तथा द्वितीय भाग 1847 में प्रकाशित हुआ । इसे अंग्रेजी के वर्णों के क्रमानुसार लिखा गया था । यह हिन्दी और उर्दू के लगभग 70 कवियों का संग्रह है । तासी ने प्रथम प्रयास में कवियों की जीवनी और उनके द्वारा रचित रचनाओं का उपलब्ध विवरण प्रस्तुत किया । यह नई दिशा की और प्रथम कदम था । इनका प्रारम्भिक प्रयास प्रशंसनीय रहा है । यह गौरवपूर्ण गाथा हिन्दी के इतिहास लेखन की परम्परा में नींव का पत्थर थी । इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए शिवसिंह सेंगर ने ''शिवसिंह सरोज'' के नाम से 1883 में दूसरा इतिहास लिखा । इसमें लगभग एक हजार कवियों का वर्णन है । इसमें कवियों की जीवनी, जीवन सम्बन्धी घटनाएँ, चरित्रों एवं उनकी कविताओं के संग्रह को संगृहीत किया गया है । हिन्दी इतिहास लेखन का तीसरा प्रयास डॉ. जार्ज ग्रियर्सन ने ''द मॉडर्न वर्नेक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान'' के नाम से लिखा । यह एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल'' से 1888 में प्रकाशित हुआ । इन्होंने इस इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवस्थित किया । इस प्रकार का इतिहास पहली बार लिखा गया, किन्तु कालक्रमबद्ध इतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत मिश्रबन्धुओं द्वारा की गई । यह ग्रंथ ''मिश्रबन्धु विनोद'' के नाम से 1913 में प्रकाशित हुआ । इसमें काल विभाजन भी किया गया। इसी समय हिन्दी साहित्य जगत् में एक देदीप्यमान नक्षत्र का अवतरण हुआ । इनका नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल था। इन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को सुव्यवस्थित कालक्रमानुसार लिखा । इस इतिहास को हिन्दी साहित्य का प्रामाणिक प्रारम्भिक ग्रंथ माना जाता है ।

यह नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा ''हिन्दी शब्द सागर'' की भूमिका के रूप में 1929 में प्रकाशित हुआ । आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार भागों में विभाजित करके इतिहास की महत्ता को बढ़ा दिया और आगामी लेखकों के लिए सीधा और सरल मार्ग तैयार कर दिया । इनका कालक्रमानुसार न्यायोचित एवं युगानुरूप इतिहास है, क्योंकि इन्होंने उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर काल विभाजन किया । इस इतिहास में शुक्ल जी ने अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट किया । उन्होंने लिखा प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्ति की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामन्जस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है । शुक्ल के पश्चात् हिन्दी साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों ने भी हिन्दी जगत में अपना योगदान दिया । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका के नाम से इतिहास लिखा । जिसमें ऐसे तथ्यों एवं निष्कर्षों का प्रतिपादन किया जो लेखन की दृष्टि से नवीन सामग्री एवं नई व्याख्या देती है । अन्य लेखकों में डॉ. रामकुमार वर्मा ने 1938 में डॉ. नगेन्द्र , डॉ. धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ. नामवर सिंह इत्यादि ने अपने अध्ययन, शोधप्रबन्ध व समीक्षात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से हिन्दी साहित्य के इतिहास में नवीन योगदान दिया।

हिन्दी भाषा पर सांस्कृतिक प्रभाव –

भारतवर्ष की विशाल धरा पर अनेक परम्पराओं के लोगों ने आक्रमण किया और वे यहाँ रच बस गए । उनकी परम्परा भारत की संस्कृति में मिल गई । भारत की धरती पर वैदिक धर्म के साथ बौद्धधर्म व जैनधर्म का भी प्रसार हुआ । बौद्धधर्म ने मनुष्य को ''जीओ और जीने दो'' की शिक्षा दी। जैन धर्म ने इसी सिद्धान्त को 'अहिंसा' के नाम से अपनाया । किन्तु वैदिक धर्म नष्ट नहीं हुआ । वैदिक धर्म में ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् एवं दर्शन शास्त्रों की रचनाएँ हुई । न्यायदर्शन (महर्षि गौतम), योगदर्शन (महर्षि पतंजलि) वैशेषिक (महर्षि कणाद), सांख्य (महर्षि कपिल), पूर्व मीमांसा (महर्षि जैमिनी), उत्तर मीमांसा–वेदांत (शंकराचार्य) तथा छः वेदांग शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द ज्योतिष व व्याकरण । इन्हीं के कारण भारत विश्व में जगत् गुरु कहलाया । तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालय उच्च कोटि के शिक्षा केन्द्र बन गए । वैदिक संस्कृति का पूर्ण विकास हो गया । यहीं से विश्व में सृष्टि और परमात्मा की व्याख्या दी गई । आत्मा और माया को व्यक्त किया गया। मनुष्य को सृष्टि के विकास और विनाश को समझाया गया। अज्ञान को मिटाकर ज्ञान के द्वारा विश्व शान्ति प्रेम और सद्भावना की शिक्षा प्रदान की गई। इसी कारण भारत का अस्तित्व आज भी अमिट है । संस्कृत के आचार्यों ने सन्तों, सिद्धाचार्यों, जैनाचार्यों तथा नाथ समुदाय के योगियों द्वारा जन मानस में चेतना का नवीन संचार किया । चित्तवृत्तियों का सात्विक प्रवृत्तियों की ओर मार्गदर्शन किया । इसका प्रमुख श्रेय भारतीय वैदिक साहित्य में ऋग्वेद को जाता है, क्योंकि ऋग्वेद की ऋचाएँ सृष्टि के तत्त्वों की प्रामाणिक व्याख्या प्रदान करती है । जैसेः– इन्द्र, वरुण, सूर्य, पृथ्वी, आदि को देवों की संज्ञा देकर सृष्टि के संचालन में इनके सहयोग को प्रदान करने के कारण इनकी स्तुति की गई । यह सत्य जगत–विदित है कि इन तत्त्वों के

माध्यम से सृष्टि आज भी संचालित है। ऋग्वेद हमारे साहित्य का मूल है । संस्कृत भाषा से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई और क्षेत्रीय अपभंश भाषाओं से उपभाषाएँ एवं बोलियाँ ही हिन्दी भाषा के जन्म का कारण हैं । इस हिन्दी साहित्य पर वैदिक कालीन संस्कृत के शब्दों की अमिट छाप है। जैसे– वाल्मीकि, वेदव्यास, अश्वघोष, कालिदास, बाणभट्ट, दण्डी, भामह, भारवि, भवभूति, विश्वनाथ, जयदेव, माघ एवं कल्हण आदि कवियों ने तथा अपभ्रंश साहित्य के अनेक आचार्यों के काव्यों ने हिन्दी भाषा को प्रभावित किया । अब्दुल रहमान (संदेशरासक) जोइन्दु कृत (परमात्मप्रकाश), धनपालकृत (भविसयत्तकहा), पुष्यदन्त कृत (जसहरचरिउ), स्वयंभू कृत (पउमचरिउ) मुनि रामसिंह कृत (पाहुड़ दोहा) तथा हेमचन्द्र का ''शब्दानुशासन'' जैसी कृतियों का हिन्दी साहित्य में अमूल्य योगदान है । राहुल सांकृत्यायन तो इस समय के सहरपा (सरहपाद) कवि को हिन्दी का पहला कवि मानते हैं ।

राजनीतिक प्रभाव –

हर्षवर्द्धन का साम्राज्य 700वी. शताब्दी के प्रारम्भ में छिन्न–भिन्न हो गया । उसके द्वारा शासित राज्यों ने अपनी सम्प्रभुता प्राप्त कर ली, साथ ही आक्रमणकारियों के लगातार युद्धों से भारतवर्ष की स्थिति को शोचनीय बना दिया । भारत की संगठित सत्ता पतन की ओर जा रही और उस समय इस्लाम राज्य की नींव रखी जा रही थी। आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारतीय राजनीतिक परिस्थितियाँ धीरे–धीरे क्षीण होती चली गईं और इस्लामी शासक हिन्दुस्तान पर काबिज हो गए । युद्धों से आहत भारतीय जनता अपना धैर्य खो चुकी थी । विदेशी शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव साहित्यिक क्षेत्र में पड़ने लगा । भाषा में अरबी–फारसी के शब्द आ गए । चारों तरफ अराजकता, गृह कलह, विद्रोह, आक्रमण, अशान्ति एवं निर्धनता से त्रस्त होकर मानव अपने मन को परम शक्ति परमात्मा के प्रति केन्द्रित करने लगा । इस समय तीन बातें प्रमुख थीं । कुछ व्यक्ति भौतिक सुखों से वंचित होने पर आध्यात्मिक बातें करने लगे, कुछ हिम्मत करके जी–जान से दुश्मनों से लोहा लेते हुए प्राण न्यौछावर करने लगे तथा कुछ मरते–मरते भी अपने भोग का परित्याग नहीं कर सके । इस युग में विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई । इन परिस्थितियों के बीच चौथी पंक्ति उन लोगों की थी , जिन्होंने अपने शौर्य और बुद्धि के बल पर धैर्य को बचाये रखा । ईश्वर की लोक कल्याणकारी सत्ता में अपना विश्वास जगाए रखा । ऐसे वीर धरती के लिए गौरव बन रहे थे । उसी गौरवपूर्ण गाथा का उदय रासो साहित्य से हुआ, जिसमें आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा उनका अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, शौर्य, वीरता एवं पराक्रम को दर्शाया जा रहा था । राजनीति एक अजीब मोड़ ले रही थी । विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत को बुरी तरह नष्ट कर दिया था । जन–धन की हानि के साथ भारतीय निराशा के सागर में डूब रहे थे ।

आर्यावर्त की समृद्धि, खुशहाली एवं शक्ति से आस–पास के सीमावर्ती प्रदेश खुश नहीं थे। उनके मन–मस्तिष्क में सदैव आर्यावर्त की खुशी छीनने की योजना बनती रहती थी । यह 'सोने की चिड़िया' कहलाने वाला देश विदेशियों की आँखों की किरकिरी बना हुआ था । यहाँ यवन, आभीर, हूण, कुषाण तथा मुसलमान आदि जातियाँ आईं । भारत के अद्भुत शौर्य के आगे यवन

पराजित हुए । किन्तु लगातार युद्धों के कारण दसवीं शताब्दी तक विदेशी जातियों ने अपना आधिपत्य जमा लिया । छठीं शताब्दी में हर्षवर्द्धन का एक छत्र साम्राज्य रहा । चीनी यात्री ह्वेंनसांग जब आया तो भारत के वैभव को देखकर वह चकित रह गया । दसवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने भारत पर लगातार कई आक्रमण किए और भारत को लूटकर ले गया । गजनवी के बाद भारत में शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी ने आक्रमण किया । तब पृथ्वीराज चौहान और शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी का तराइन में (1191) पहला युद्ध हुआ, जिसमें गौरी पराजित हुआ, किन्तु दूसरे ही वर्ष (1192) शहाबुद्दीन गौरी तराइन के मैदान में फिर आ डटा और यह भारत के लिए एक निर्णायक युद्ध हुआ । पृथ्वीराज चौहान की पराजय हुई और गौरी की विजय। इन युद्धों के कारण जनता और पिस गई थी, आर्थिक संकट से जूझ रही थी । अकाल और भुखमरी से आहत थी और सम्राट युद्ध में व्यस्त रहते थे । गुलाम प्रथा का बोलबाला था । स्त्रियों को बाजार में खरीदा और बेचा जाता था। दास प्रथा का प्रचलन हो रहा था । गुलाम वंश से खिलजी वंश तक भारत की स्थिति दयनीय हो गई थी । अकाल और गरीबी के कारण हिन्दुओं को दुःख भोगना पड़ता था । अमीर खुसरो इसी युग के कवि थे । इन्होंने इस समय अपनी प्रसिद्ध कृति खुसरो की पहेलियाँ लिखी –

तरवर से इक तिरिया उतरी, उसने बहुत रिझाया ।
बाप का उससे नाम जो पूछा, आधा नाम बताया । ।
आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गौरी ।
अमीर खुसरो यो कहे, अपने नाम न बोली निबोरी ।।

सामाजिक स्थिति का प्रभाव –

राजनीतिक परिस्थितियों के साथ सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन आ रहा था । जनता का शासकों के प्रति विश्वास समाप्त हो गया तो धर्म के मठाधीशों के प्रति भी निराशा ही हाथ लग रही थी । चारों तरफ असहायता एवं लाचारी नजर आ रही थी । ऐसे में अंधविश्वास, जातिपाँति का भेद और बढ़ गया । समाज में असामाजिकता, अत्याचार एवं अनुशासनहीनता का वातावरण फैल गया । स्त्री के प्रति और भी अन्याय होने लगा । नारी वस्तु की भाँति खरीदी और बेची जाने लगी । सती प्रथा, बाल विवाह तथा दास प्रथा की परम्परा ने जोर पकड़ लिया था । ढोंगी सन्त महात्मा व्यक्तियों को धर्म का भय दिखाकर ठग रहे थे । निर्धनता जनता के लिए अभिशाप बन चुकी थी । अकाल, महामारी, आक्रमण के कारण फसलों को नष्ट करना, जनता को मारना–काटना आदि बातों ने समाज को विकट परिस्थितियों में डाल दिया । गरीब–गरीब बन रहे थे और धनी धनवान बनते जा रहे थे । इस समय केवल साहित्य के द्वारा ही आशा का संचार किया जा रहा था । अपभ्रंश भाषा में साहित्य रचना हो रही थी जिसके माध्यम से धर्म, नियम एवं नैतिकता पुनः समाज में अपना स्थान जमा रही थी । सातवीं शताब्दी के अंत में और आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापत्य कला को बढ़ावा मिला । पल्लव शासकों ने शिल्पियों एवं चित्रकारों को सम्मान देना शुरू कर दिया । मद्रास म्युजियम के चोल ताम्रपत्र के अनुसार कांचीपुरम के बुनकरों को उनकी

व्यापारिक कलाओं के कारण वैश्य व्यापारियों जैसा सम्मान मिलना शुरू हो गया और बुनकर (जुलाहे) कपड़े का व्यापार करने लगे । दक्षिण में वैष्णव आलवार संतों के उच्च वर्ण एवं निम्न वर्णों के सन्त आपस में मिल जुलकर रह रहे थे और समाज में सामाजिक सद्भावना का सन्देश दे रहे थे । निम्नवर्ग सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से ऊपर उठने के लिए एक नया मार्ग ढूढ़ने के लिए प्रवृत्त हो रहा था । इसी समुदाय के कांचीपूर्ण नामक सन्त बहुत प्रतिष्ठित हो रहे थे । समाज में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का दर्शन जीवन दर्शन को प्रकट कर रहा था । अद्वैत के शंकराचार्य जगत् को मिथ्या परिवर्तनशील मानते और ब्रह्म को सत्य मानते हैं – ''ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या'' और रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत में जगत को शरीर और ब्रह्म को शरीरी मानते थे। रामानुजाचार्य के शिष्य रामानन्द जी ने भक्ति को दक्षिण से उत्तर में लाने का कार्य किया।

आदिकाल की पृष्ठ भूमि –

संस्कृत भाषा के विशाल साहित्य में अपार शब्द भण्डार है । इसमें अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु वेद, उपनिषद, आरण्यक की भाषा जनसामान्य के लिए कठिन हो रही थी । इसलिए भाषा का सरलीकरण हुआ और लोक भाषा के रूप में अपभ्रंश तक पहुँच गई । सातवीं शताब्दी में अपभ्रंश पूर्ण रूप से विकास की ओर जा रही थी । कहीं वह ग्राम्य भाषा के रूप में तो, कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्दावली युक्त वाक्य योजना के अन्तर्गत लिखी जा रही थी । तत्कालीन साहित्यकार जनरुचि को देखकर अपने मनोभावों को अभिव्यक्त कर रहे थे । सातवीं शताब्दी के सिद्धाचार्यों ने अपने अनुभवों को वाणी देना प्रारम्भ कर दिया । उनकी भाषा में संस्कृत शब्दावली का प्रयोग हुआ । ये तत्सम शब्द धीरे–धीरे हिन्दी भाषा की नींव डाल रहे थे । दसवीं शताब्दी तक आते–आते अपभ्रंश का लोक साहित्य पर्याप्त विकसित एवं सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यंजना करने लगा । इस समय अपभ्रंश भाषा परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर चुकी थी और लोक भाषा में लिखित साहित्य तत्सम शब्दावली युक्त अपभ्रंश में लिखा जाने लगा। अपभ्रंश का रूप निखर कर आ रहा था । विभिन्न प्रवृत्तियों तथा विभिन्न काव्य रूपों के कारण कथा और शिल्प–विधान भी संस्कृत साहित्य के नियमों के बंधन से मुक्त हो गया । यह विभिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतमतान्तरों का काल था । कहीं सदाचार और वैराग्य की धारा में कवि अपनी रचना लिख रहा था तो कहीं श्रृंगार रस की धारा के साथ–साथ वीर रस का भी संगम हो रहा था।

दसवीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी का यह साहित्य राजाश्रय, धर्माश्रय तथा लोकाश्रय के आधार पर रचा जा रहा था । इस समय साहित्यिक संक्रमण काल चल रहा था । छन्द, काव्यात्मक रूप, विषयवस्तु, काव्य रूढ़ियाँ एवं परम्पराओं की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुआ । हिन्दी भाषा को प्राणवान् बनाने का प्रयास प्रबुद्धचेता तथा विकासोन्मुखी प्रतिभावान रचनाकारों ने अपने भावों को लोकरंजनकारी एवं लोककल्याणकारी बनाने का सुनियोजित मार्ग प्रशस्त किया । जनमानस जीवन्त धारा की ओर बढ़ रहा था । वीर रस की वेगमयी धारा ने अदम्य साहस का संचार किया, जो लोकरंजन के साथ–साथ लोकरक्षण का काम कर रही थी । राजाश्रय कवियों ने युद्ध के क्षणों में सेना के मनोबल को बढ़ाने के लिए वीर रस

को चुना । वीर रस की ओजस्वी शैली के कारण इस को रासो का नाम दिया गया । यथाः– आध्यात्मिक, वीर रसात्मक तथा श्रृंगारिक रचनाओं के उदाहरण इस प्रकार है :–

नाद न, बिंदु न रवि न ससि मण्डल । चिअराअ सहाबे मूलक ।।
उजु रे उजु जाडि मा तेहु रेबंक । निअहि वोहि जा जहुरे लंक ।।
सरहपाद

हम्मीर कज्ज जज्जल भण्इ फोहाणल यह मई जलउ ।
सुलितान–सीस करवाल दह तज्जि कलेवर दिअचलउ ।।
शाङ्‌र्गधर

जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपति भेल ।
से हो मधु वोल स्रवनहि सूनल स्रुति पथ परस न मेल ।।
विद्यापति

आदिकाल के इस समय में हिन्दी का प्रारम्भिक रूप देखने को मिल रहा था । हिन्दी अपने अस्तित्व में आ रही थी । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा ''दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल जिसे हिंदी का आदि काल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ावा है । इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नए तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया'' । इस प्रकार अपभ्रंश के प्रारम्भ से लिखी गई रचनाएँ और उत्तरार्द्ध अपभ्रंश की रचनाएँ आदिकाल की रचनाएँ मानी गईं हैं। इस समय का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश के रूप में हिन्दी का रूप निखार रहा था । इस काल के नामकरण पर अनेक मत प्रकट हो रहे थे ।

काल विभाजन और नामकरण –

हिंदी साहित्य के काल विभाजन को लेकर विभिन्न मत मतान्तर है । साहित्यिक परम्पराएँ और प्रवृत्तियाँ निरन्तर गतिशील रहती हैं। जो प्रवृत्ति अनुकूल परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती है वही समय पाकर प्रतिकूल परिस्थितियों में धीरे–धीरे मन्द पड़ जाती है । यह काल की शाश्वत क्रिया है, किन्तु पूर्णतः कोई प्रवृत्ति विलुप्त नहीं होती । प्रकृति की प्रवृत्ति उद्भव विकास और ह्रास की रही है। विभिन्न प्रकार की साहित्यिक धाराएँ उत्पन्न हुईं और समय पाकर विलीन हो गई। इसलिए काल विभाजन का कार्य अत्यंत कठिन रहा है। फिर भी विद्वानों ने अपने विवेक एवं शोध प्रक्रिया के माध्यम से हिन्दी साहित्य में काल विभाजन एवं उसका नामकरण करने का प्रयास किया है । डॉ. ग्रियर्सन के पूर्व लिखे गए साहित्य के इतिहासकार गार्सा द तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने अपने इतिहास में केवल तत्कालीन रचनाओं की साहित्यिक कृति की झलक प्रस्तुत की थी । वे काल विभाजन की दृष्टि से इतनी प्रभावी नहीं हो पाई । डॉ. ग्रियर्सन ने अपने पूर्व विद्वानों द्वारा रचित इतिहास का गहन चिंतन मनन एवं सूक्ष्म अध्ययन करके इस काल को क्रमानुसार विभाजित किया। इन्होंने हिन्दी साहित्य में पहली बार संयोजित एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाया । डॉ.

ग्रियर्सन ने कहा कि समय की परिवर्तनशीलता के कारण चिंतनधारा में भी परिवर्तन होता है। ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को ग्यारह भागों में विभाजित किया। इन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रथम काल का नाम चारण काल कहा । मिश्रबन्धुओं ने अपने इतिहास ग्रंथ ''मिश्रबंधु विनोद'' में निम्न प्रकार से काल विभाजन किया ।

1. आरम्भिक काल (क) पूर्वारम्भिक काल 700 से 1343 वि.
   (ख) उत्तरारम्भिक काल 1344 से 1444 वि.

2. माध्यमिक काल (क) पूर्वमाध्यमिक काल 1445 से 1560 वि.
   (ख) प्रौढ़ माध्यमिक काल 1561 से 1680 वि.
3. अलंकृत काल (क) पूर्वालंकृत काल 1681 से 1790 वि.
   (ख) उत्तरालंकृत काल 1791 से 1889 वि.
4. परिवर्तन काल 1890 से 1925 वि.

5. वर्तमान काल 1926 से अद्यावधि

मिश्रबन्धुओं का वर्गीकरण ग्रियर्सन की अपेक्षा प्रौढ़ था, किन्तु इसमें पूर्णता नहीं आई । इसे वैज्ञानिक तरीके से सही नहीं माना गया क्योंकि यह युक्ति संगत कम था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 900 वर्षों के हिन्दी साहित्य को चार भागों में विभाजित किया, जो विद्वानों को कुछ मान्य तथा कुछ अमान्य रहा । शुक्ल के अनुसार हिन्दी साहित्य को निम्नलिखित कालों मे बाँटा गया –

1. वीरगाथा काल वि. 1050 से 1375 तक (993 ई० से 1318 ई०)
2. भक्तिकाल वि. 1375 से 1700 तक (1318 ई० से 1643 ई०)
3. रीतिकाल वि. 1700 से 1900 तक (1643 ई० से 1843 ई०)
4. गद्यकाल वि. 1900 से आज तक (1843 ई० से अब तक)

आचार्य शुक्ल के काल विभाजन एवं नामकरण के पीछे कारण रहा है। शुक्ल जी का वीरगाथा काल नामकरण विशेष अनुसंधान एवं गन्वेषणाओं के आधार पर किया गया। उनके काल विभाजन के दो आधार थे –

1. किसी काल खण्ड में विशेष ढंग की रचनाओं की प्रमुखता ।
2. इस समय के ग्रन्थों की प्रसिद्धि ।

शुक्ल जी ने बताया है कि इतिहास की खोज करने पर सबसे पहले रासो की प्राप्ति हुई। जो वीर रस में लिखा गया था। शुक्ल जी ने निम्नलिखित 12 ग्रंथों के आधार पर हिन्दी के प्रथम काल को वीरगाथा काल कहा ।

1. विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत)	2. हम्मीर रासो (शाङ्र्गधर कृत)
3. खुमान रासो (दलपतविजय कृत)	4. बीसलदेव रासो (नरपति नाल्हकृत)
5. पृथ्वीराज रासो (चंदबरदाई कृत)	6. जयचंदप्रकाश(भट्ट केदार कृत)

7. जयमंयक जस चंद्रिका (मधुकर कवि कृत) 8. परमाल रासो (जगनिक कवि कृत)
9. खुसरो की पहेलियाँ (अमीर खुसरो कृत) 10. कीर्तिलता (विद्यापति कृत)
11. कीर्ति पताका (विद्यापति कृत) 12. विद्यापति पदावली (विद्यापति कृत)

किन्तु शुक्ल जी के नामकरण को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नहीं माना । उन्होंने कहा शुक्ल जी द्वारा वीरगाथा काल की प्राप्त सामग्री साहित्यिक कोटि में नहीं आती है। इस समय रचित धार्मिक साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकते । धार्मिक आधार भूमि पर रचित साहित्य भी उत्तम कोटि का होता हैः– उदाहरण रामचरितमानस को यदि भक्तिकाल से निकाल देते हैं तो भक्तिकाल की शोभा नष्ट हो जाती है । इस तरह सन्देशरासक, स्वयंभू कृत पउमचरिउ (रामायण) पुष्यदंत्त कृत 'पउमसिरी चरिउ' आदि जैन साहित्य के ग्रंथों को भी हिन्दी साहित्य से बाहर नहीं कर सकते । द्विवेदी जी के शब्दों में धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए । इस प्रकार अपभ्रंश के काव्य ग्रन्थों की नवीन खोज एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन करना चाहिए । शुक्ल जी ने मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लिखित तथा अन्य अपभ्रंश ग्रंथों को आदिकाल के लक्षण–निरूपण तथा नामकरण के लिए विवेच्य नहीं समझा था। आज नवीनतम खोजों के आधार पर उत्कृष्ट अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) के काव्य ग्रंथ प्राप्त होने से शुक्ल जी का दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार भागों मे विभाजित किया ।

1. आदिकाल 2. पूर्व मध्यकाल 3. उत्तर मध्यकाल 4. आधुनिककाल

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के प्रथम काल को आदिकाल कहने के लिए अपना मत प्रकट किया। उन्होंने लिखा कि ''वस्तुतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में एक भाव पैदा करता है कि यह कोई आदि में मनोभावपन परम्परा विनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियाँ से अछूते साहित्य का काल है; यह ठीक नहीं है । यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग सचेत कवियों का काल है। पंडित राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को सिद्धसामन्त काल कहा । उन्होंने माना कि यह काल सिद्ध आचार्यों के धार्मिक उपदेश नैतिक दर्शन एवं आध्यात्मिकता से युक्त है । डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल को संधि व चारण काल कहा इस नामकरण को दो भागों में बाँटने के पीछे कारण था। संधि काल दो भाषाओं की संधि का काल था तथा चारणकाल चारण जाति के कवियों द्वारा राजाओं की यशोगाथा को प्रकट करता है, जिसमें तत्कालीन राजाओं के शौर्य, वीरता एवं साहस का वर्णन है। उनके जीवन प्रसंगों को अतिशयोक्तिपूर्ण बनाकर वर्णन करना है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को ''बीजवपन'' काल कहा। उन्होंने बताया कि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है साथ ही साथ कुछ नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी उद्‌भव हुआ है जो अपने समुचित विकास रूप में है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हिन्दी साहित्य के प्रथम काल को अपभ्रंश काल के नाम से सम्बोधित किया। उन्होंने बताया कि हिन्दी की प्रारम्भिक स्थिति अपभ्रंश भाषा के साहित्य से शुरू होती है, इसलिए अपभ्रंश काल कहना उचित है । विश्वनाथ प्रसाद

मिश्र द्वारा इस काल का नामकरण वीरकाल किया गया । इससे यह लगता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वीरगाथा काल का ही रूपान्तरण है । डॉ. नगेन्द्र ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल का विभाजन एवं नामकरण सामान्यतः इस प्रकार किया हैं।

1. आदिकाल सातवीं शताब्दी के मध्य से चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक ।
2. भक्तिकाल चौदहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक ।
3. रीति काल सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ।
4. आधुनिक काल उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अब तक ।

(1.) पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु काल) 1857 से 1900 ई०तक

(2.) जागरण काल (द्विवेदी काल) 1900 से 1918 ई० तक

(3.) छायावाद काल 1918 से 1938 ई० तक

(4.) प्रगति–प्रयोग काल 1938 से 1953 ई० तक

(5.) नवलेखन काल 1953 ई० से अब तक

परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा हिन्दी के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी । अपभ्रंश भाषा के कवि अपनी वाणी को सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विचारों से युक्त करके मानवीय जीवन को सुव्यवस्थित करने की ओर ध्यान दे रहे थे और जन–जन को नवीन प्रेरणा प्रदान करके अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर रहे थे । तब यह प्रश्न आता है कि हिन्दी का प्रथम कवि किसे कहा जाए । शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रंथ ''शिवसिंह सरोज'' में हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में सातवीं शताब्दी के पुष्य दन्त या पुण्पदन्त नामक किसी कवि का नाम लिखा, किन्तु इस कवि का उल्लेख मात्र मिलता है अभी तक उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई । शिवमहिम की रचना पुण्यदन्त ने की। इनका लक्षणग्रन्थ भी था जो अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। सरहप्पा (सरहपाद)राहुल सांकृत्यायन ने सातवीं शताब्दी के सरहप्पा को हिन्दी का प्रथम कवि माना है । ये 84 सिद्धाचार्यों में से है । इन्होंने बताया कि सरहपाद कवि की कृतियों में अपभ्रंश की अपेक्षा संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ। इनकी काव्य चेतना में अनेक ऐसे तत्त्वों का समावेश है जो भक्ति काल में पल्लवित हुए अर्थात्, इनका काव्य भक्ति काल का बीजांकुर था। 84 सिद्धाचार्यों की वाणी का रूप नाथ सम्प्रदाय से लकर कबीर दास तक देखा जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ सम्प्रदाय का विकास सिद्ध साहित्य से ही हुआ । सरहप्पा को हिन्दी का पहला कवि कहने के पीछे एक अन्य आधार काव्य शैली है । इनका काव्य दोहा और पदों की शैली युक्त था, जिसे परवर्ती कवियों ने अपनाया । इन्होंने मुक्त छंद दोहा का अधिक प्रयोग किया । इन दृष्टियों से सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि माना गया। कुछ विद्वानों का मत है कि सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि इसलिए नहीं मानते कि इनका काव्य अपभ्रंश साहित्य में लिखा गया है तथा दूसरा इस समय हिन्दी का कोई प्रसार नहीं था । हिन्दी का निखार तो 11वीं शताब्दी तक आते–आते हुआ । जबकि सरहपाद सातवीं शताब्दी के सिद्धाचार्य कवि थे । डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने कहा ''अपभ्रंश और हिन्दी के बीच ऐसी कोई मध्यान्तर रेखा नहीं खींची जा सकती है । उन्होंने अपने ''हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'' में ''भरतेश्वर बाहुबली रास'' के रचयिता शालिभद्र सूरि को

हिन्दी का प्रथम कवि माना है। कुछ विद्वान अमीर खुसरो को तथा कुछ विद्यापति को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं। लेकिन कुछ विद्वानों ने अमीर खुसरो और विद्यापति को 12वीं शताब्दी के कवि कहकर अस्वीकार कर दिया। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में लिखा – महाकवि चंदबरदाई वास्तव में हिन्दी के प्रथम कवि है । चंदबरदाई की रचनाओं में प्रौढ़ता एवं छन्द विधान का अनुसरण किया गया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि चंदबरदाई हिन्दी के प्रथम कवि हैं एवं इनकी रचना पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है । डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1938) में लिखा । उन्होंने बताया कि स्वयंभू हिन्दी का प्रथम कवि है क्योंकि अपभ्रंश के कवियों की लेखनी काव्यमयी हो उठी थी । शैली भी सरस और प्रवाह पूर्णता के कारण लोकप्रिय हो रही थी जिसका प्रभाव भक्ति पर पड़ा किन्तु अन्त में हिन्दी साहित्य के प्रथम कवि के रूप में सरहप्पा को ही माना गया, क्योंकि उनकी भाषा एवं काव्य शैली के उदाहरणों से स्वतः ही इसका उत्तर मिल जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि सरहपाद की भाषा अपेक्षाकृत हिन्दी के अधिक निकट है ।

जह मन पवन नसंचरइ, रवि शशि नाह पवेश ।
तहि वट चित विसाम करू, सरहे कहिअ उवेश ।।
पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ ।
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ ।।

इस उदाहरण से अपभ्रंश भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रवृत्ति पाई गई जो आगे चलकर हिन्दी भाषा के शब्द बने, मन पवन, रवि, शशि वट और चित । राहुल जी ने सरहप्पा का समय 769 ई. माना है । डॉ. रामकुमार वर्मा भी सातवीं शताब्दी से ही सिद्धों की रचनाओं को भाषा का प्रारम्भिक रूप मानते हैं । इसमें दोहा शैली का विकसित रूप मिलता है। सिद्धाचार्यों के इस प्रकार के साधनात्मक दोहे नाथ सम्प्रदाय एवं कबीर दास के हठयोग तक का मूल सिद्ध करते हैं ।

आदिकालीन साहित्यिक भाषा का स्वरूप –

आदिकाल की मूल भाषा अपभ्रंश ही साहित्यिक भाषा के रूप में उभरकर आ रही थी। अपभ्रंश की साहित्यिक सामग्री की विवेचना करें तो हमें चार रूप मिलते हैं – लोक भाषा में लिखित अपभ्रंश साहित्य, राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश साहित्य, मैथिली मिश्रित अपभ्रंश साहित्य, खड़ी बोली मिश्रित देशी भाषा साहित्य।

अपभ्रंश साहित्य –

लोक भाषा अपभ्रंश पुरानी हिन्दी का पूर्ववर्ती रूप है । इसे अपभ्रंश के कवियों ने जन मानस में नवीन उदार भावनाओं का संचार करने के लिए अपनी आध्यात्मिक भावनाओं को जन–जन तक पहुँचाने के लिए काव्य की रचना की । अपभ्रंष भाषा उस समय विभिन्न रूपों मे प्रकट हो रही थी । जैसे :– पहले लौकिक अपभ्रंश, दूसरी परवर्ती अपभ्रंश जिसे अवहट्ठ भी कहते हैं, तीसरी क्षेत्रीय भाषा की अपभ्रंश जिसे राजस्थानी (डिंगल) का नाम दिया जाता है। लौकिक अपभ्रंश का साहित्य – सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य।

सिद्ध साहित्य – राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है । इन सिद्धों का मूल लक्ष्य अपने साहित्य को जन भाषा में लिखकर सर्वसाधारणजन तक पहुँचाना था । इनके साहित्य में बौद्धधर्म के वज्रयान तत्त्व का बाहुल्य था। सिद्ध साहित्य के प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं –

सरहप्पा – सरहपाद इस समय के सबसे प्रमुख सिद्ध माने जाते हैं, जिनका समय 769 ई. माना गया है। इनके द्वारा 32 ग्रंथों की रचना की गई है। ये ब्राह्मण जाति के थे । इसके द्वारा रचित दोहाकोश और चर्यापद प्रसिद्ध रचना है। इन्होंने पाखण्ड और आडम्बरों का धोर विरोध किया तथा गुरु को सबसे पूज्य माना । इनका कहना है कि ''सहजभोग मार्ग जीव को महासुख की ओर ले जाता है।'' इनकी भाषा सरल एवं गेय थी । इसलिए भावों में सहज प्रवाह मिलता है । दक्षिण मार्ग को छोड़कर वाममार्ग का उपदेश दिया । उदाहरण :–

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल ।
चिअराअ सहाबे मूकल ।।
अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक ।
निअह बोहिया जाहुरे लांक ।।

कवि सरहपाद की इस भाषा से लगता है कि यह हिन्दी के निकट थी । इसमें अपभ्रंश का भी पूर्ण प्रभाव है । इनके काव्य में अन्तःसाधना पर जोर दिया गया । पण्डितों को फटकार एवं शास्त्रीय मार्ग का खण्डन किया ।

पंडिअ सऊल सन्त बसखाणणई । देहहि बुद्ध बसन्त जाणई ।।
अमणा गमन णतेनबि खंडिअ । तो विणिलज्ज हउं पंडिअ ।।

शबरपा – शबरों का सा जीवन यापन करने के कारण इनका नाम शबरपा कहे जाने लगा। चर्यापद इनकी प्रसिद्ध रचना है । ये क्षत्रिय कुल के थे । सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया । इन्होंने सहज जीवन पर बल देकर माया–मोह का विरोध किया ।

हेरि ये मेरि तइला, वाडी खसमें समतुला ।
पुकडए सेरे कपासु फुटिला ।।

लुइपा – ये शबरपा के शिष्य थे । ये जाति से कायस्थ थे, किन्तु इनकी प्रबल साधना देखकर उड़ीसा के राज मंत्री इनके शिष्य बन गए । चौरासी सिद्धों में इनका ऊँचा स्थान है ।

''कौआ तरुवर पंच विडाल,चंचल चीए पइठा काल ।

डोम्बिपा – डोम्बिपा जाति के क्षत्रिय थे । इनका समय 840ई. के लगभग माना गया है । इनके गुरु का नाम विरूपा था । इनके प्रसिद्ध ग्रंथ डोम्बि–गीतिका व योगचर्या विशेष–प्रसिद्ध ग्रंथ है ।

''गंगा जउना माझेरे बहर नाइ ।
तांहि बुडिली मातंगी पोइआली ले पार गई ।।
सद्गुरू पाऊपए जाइव पुणु जिणउरा ।

कण्हपा – ये ब्राह्मन वंश के थे । इनका समय 820 ई. माना जाता है । इनका जन्म कर्नाटक में हुआ । किन्तु ये बिहार क्षेत्र में रहे। इनके गुरु का नाम जालंधरपा था । इन्होंने रहस्यपरक बातों को बड़े दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत किया तथा शास्त्रीय परम्परा एवं रूढ़ियों का खण्डन किया।

आगम बेअ पुराणे, पंडित मान वहति ।
पक्क सिरिफल अलिअ, जिमे वाहेरित भ्रंमयंति ।।

कुक्कुरिपा – ये कपिलवस्तु के ब्राह्मन थे। चर्पटिया इनके गुरु थे । उन्होंने सोलह ग्रंथों की रचना की । ये सहज जीवन के समर्थक थे ।

हांद निवासी खमण भतारे।
मोहोरे विगोआ कहण न जाई ।।
फेट लिउ गो माए अन्त उडि चाहि ।
ज एथु बाहाम मो एथु नाहि ।।

सिद्ध साहित्य की विशेषताएँ एवं परवर्ती काव्य पर इनका प्रभाव –

1- सिद्धों की रचना से पता चलता है कि इनकी काव्य शैली संधा या उलटबासी शैली की थी, जिसका सामान्य अर्थ से उलटा अर्थ लगता है ।
2- अंतःसाधना पर जोर दिया गया ।
3- रहस्यमार्गियों की साधना पद्धति अपनाई गई है।
4- वारुणी प्रेरित अंतःसाधना पर जोर दिया गया । लोक विरूद्ध एवं अडम्बारों का खण्डन किया ।
5- उपदेशपरक साहित्यिक रचनाएँ थीं ।
6- प्रतीक मूलक एवं विरोध मूलक प्रतीकों से काव्य साधना की ।

इस प्रकार सिद्ध साहित्य न केवल महत्त्वपूर्ण रहा अपितु उसका प्रभाव परवर्ती भाषा साहित्य पर भी पड़ा । सिद्धाचार्यों के काव्य का सीधा प्रभाव सन्त साहित्य पर पड़ा । कर्मकाण्डों की निन्दा, आचरण की शुद्धता, संधा भाषा, उलटबासियाँ, रहस्यमयी उक्तियाँ, रूपक एवं प्रतीक विधान शब्दावली का प्रयोग हम भक्तिकाल के सन्त कबीर के साहित्य में देखते हैं । दोहा और गीत शैली भक्तिकाल की विशेषता बन गई । इसका प्रभाव नाथ साहित्य पर भी पड़ा, क्योंकि योग साधना सिद्धों की परम्परा लगती है । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा ''भक्तिवाद पर सिद्धों का प्रभाव है। इनके साहित्य की सबसे बड़ी महत्तवपूर्ण देन यह है कि आदिकाल की प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हुई।''

जैन साहित्य – आठवीं शताब्दी में जैन धर्मावलम्बियों ने अपने मत का प्रचार करना शुरू कर दिया । इन्होंने जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित व वैष्णव अवतारों की कथाएँ जैन आदर्शों के आवरण में रास नाम से पद्धबद्ध रचना करना प्रारम्भ कर दिया । जैन मन्दिरों में श्रावक लोग रात्रि में रास गायन करते थे । इनकी रचनाएँ उच्च कोटि के साहित्यिक दर्शन युक्त थी । चरित और रास

शब्द से पता चलता है कि इनके साहित्य में चरित्र पर विशेष जोर दिया गया । अपभ्रंश भाषा में रचित साहित्य के रचनाकारों में प्रमुख कवि स्वयंभू, पुष्यदन्त, धनपाल, देवसेन, शालिभद्रसूरि व हेमचन्द्र थे ।

स्वयंभू – इनका समय 783 ईस्वी के आसपास का माना गया है । इनकी तीन अपभ्रंश की रचनाएँ उपलब्ध हैं। 1. पउम चरिउ, 2. रिट्ठ–नेमिचरिउ, 3. स्वयंभूछन्द । 'पउमचरिउ' रचना में रामकथा का वर्णन है । यह रचना अत्यधिक प्रसिद्ध हुई । इसमें भक्ति की तन्मयता काव्य की सरसता एवं प्राकृतिक सौन्दर्य का सूक्ष्म वर्णन है। परवर्ती चरित काव्यों पर स्वयंभू की वर्णन शैली का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है

पुष्यदन्त – इनका समय दसवीं शताब्दी के आस–पास का रहा है । इनके तीन प्रमुख ग्रंथ है 1. णयकुमार चरिउ 2. महापुराण 3. जसहर चरिउ । कवि पुष्यदन्त की काव्य रचना का उद्देश्य शुद्ध धार्मिक चरित्र प्रधान रचना से है । महापुराण के आदि पुराण खण्ड में तीर्थंकर ऋषभदेव, तेईस तीर्थंकरों तथा उनके समकालीन महापुरुषों का चरित है । उत्तर पुराणों में रामायण और हरिवंश (महाभारत) है । इनको अपभ्रंश भाषा का व्यास कहा जाता था । इन्होंने अपना काव्य दोहा और चौपाई में लिखा । जिसका प्रभाव रामचरितमानस पर दिखाई दिया । ये कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे । जो मान्यखेट के प्रतापी राजा के महामात्य भीत के सभाकवि थे । महापुराण में इन्होंने लिखा ।

वोल्लई कोइल अंबयं कलियाई ।
कांकणि चंचरीउ रूण रूटई ।।

अर्थात् भगवान जिनेन्द्र की भक्ति से मेरा कवित्व वैसा ही उच्छवसित हो उठता है जैसे मधुमास में आम्र के बौर पर कोयल कूक उठती है। कानन में भ्रमर गूंजने लगते हैं । अतः पुष्यदन्त का महापुराण जैन धर्म का उत्तम कोटि ग्रंथ है ।

धनपाल – इनका समय 10वीं शताब्दी का रहा । इनकी रचना ''भविष्यतकहा'' है, जो अपभ्रंश का लोकप्रिय महाकाव्य है। ये धक्कड़ वैश्य कुल के थे । इनका मूल उद्देश्य श्रुतपंचमी व्रत के माहात्म्य को प्रतिपादित करना है । इनका कथानक लौकिक भाषा साहित्यिक मुहावरों एवं लोकोक्तियों से युक्त आलंकारिक एवं छन्द युक्त है। यह इस युग के कुशल कवि माने जाते हैं।

देवसेन – आचार्य देवसेन 933 ईस्वी के कवि थे। ये उत्तम कोटि के चिन्तक कवि हैं । अपभ्रंश में श्रावकाचार इनकी प्रसिद्ध रचना है । उसमें 250 दोहों में श्रावक धर्म को प्रतिपादित किया तथा गृहस्थ के कर्तव्यों को भी स्थान दिया है ।

जो जिन सासन भाषियउ, सो मई कहियउ सारु ।
जो पावई सई भाउ करि, सो सरि पावई पारु ।।

शालिभद्र सूरि – इनका समय 1184 ई० के लगभग माना जाता है। जैन साहित्य में रास परम्परा का प्रथम ग्रंथ भरतेश्वर बाहुबली रास को माना जाता है। ये इस युग के प्रसिद्ध आचार्य एवं कवि थे। इसमें अयोध्या के राज्य में ऋषभ के भरत और बाहुबली नाम के दो पुत्रों

की कथा है, जो वीरता और वैराग्य के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। यह खण्ड काव्य 205 छन्दों में वर्णित है इसका उदाहरण इस प्रकार है ।

बोलई बाहुबली बलबन्त । लोह खण्डि तड गरवीउ हंत ।
चक्रसरीसउ चूनउ करिउ । सयल है गोत्रह कुल संहरउ ।।

इस प्रकार की उत्तम कोटि की काव्य रचना के कारण डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने इन्हें हिंदी का पहला कवि माना है ।

सोमप्रभसूरि – ये कुमारपाल नामक काव्य के रचयिता है । इन्होंने संस्कृत मिश्रित प्राकृत काव्य लिखा । इसमें अपभ्रंश की कहीं–कहीं छटा दिखाई देती है, जिनको दोहे के रूप में वर्णित किया है ।

जैनाचार्य मेरुतुंग – इनकी प्रसिद्ध रचना प्रबन्ध चिन्तामणि नामक ग्रंथ है। इसमें प्राचीन राजाओं की कथा दोहा शैली में रचित है यह ग्रंथ बहुत चर्चित रहा है। इसमें भोज के चाचा मुंज के कहे हुए कई बुद्धियुक्त दोहे हैं ।

जा मति पच्छई संपजई , सा मति पहली होई ।
मुंज भणई मृणावलई, विघन न बैठे कोइ। ।।

अर्थात् :– जो बुद्धि घटना के पीछे प्राप्त होती है यदि वह घटना के पहले प्राप्त हो जाए तो मुंज कहते हैं कि – हे! मृणालवति किसी को विध्न नहीं आएगा ।

आसगु – कविकृत 'चंदनबाला रास' नामक लघु खण्ड काव्य है । इनकी यह रचना 1200 वीं शताब्दी की मानी जाती है । कहते हैं कि यह जालौर में रची गई है । इसमें चन्दनबाला के सतीत्व की कथा है । जो अपने सतीत्व पर डटी रही और अंत में महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त की ।

जिनधर्मसूरि – इनकी रचना 'स्थूलिभद्र रास' जो है 1209 ईस्वी में लिखी गई है। स्थूलिभद्र पहले भोग विलास में लिप्त था । अंत में जैन धर्म में दीक्षा ले लेता है । इस पर अपभ्रंश भाषा का अधिक प्रभाव है ।

हेमचन्द्र – हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के जैन परिवार में हुआ । इनका बचपन का नाम चंगदेव था । जब ये जैन धर्म में दीक्षित हुए तो इनका नाम हेमचन्द्र पड़ा । ये सूरि जैन साधु बनने पर हेमचन्द्र सूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए । ये शब्दानुशासन के रचयिता है । इनको अपभ्रंशभाषा का पाणिनि भी कहते हैं । इनकी ''शब्दानुशासन'' और ''छन्दोनुशासन'' दो प्रमुख रचनाएँ है । इस प्रकार जैन साहित्य में विजयसेन सूरि की रचना रेवतागिरि, सुमति की नेमीनाथ रास अपभ्रंश की रचित रचनाएँ हैं। इस समय अपभ्रंश में राजस्थानी की छटा भी दिखाई देती है ।

नाथ साहित्य –

आदिकाल में सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य तथा नाथ साहित्य अत्यधिक महत्तवपूर्ण रहा है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– ''नाथपंथ या नाथसम्प्रदाय सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूतमत एवं अवधूत सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है।'' यह मुख्यतः ये दो सम्प्रदायों के नाम से विशेष जाना जाता है । 1. सिद्धमत 2. नाथमत। इन दो भागों के नाम से पुकारे जाने का

कारण है – पहला मत्स्येन्द्र नाथ तथा दूसरा गोरखनाथ । एक किंवदन्ती है कि गोरखनाथ मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य है, किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ परम योगी होकर भी नारी साहचर्य के आचार में फँस गए । तब उनके शिष्य गोरखनाथ को पता चला तो उनको सजग किया, तब से यह कथा प्रचलित है ।

''जाग मच्छेन्द्र गोरख आयो।''

गोरखनाथ – ये नाथ सम्प्रदाय के सशक्त प्रणेता थे । इस सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध योगी रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है – ''इनका समय 845 ईस्वी. माना जाता है । गोरखनाथ से पहले अनेक सम्प्रदाय हुए, किन्तु उन सबका विलय हो गया, गोरखनाथ की रचनाओं में, गुरुमहिमा इन्द्रियनिग्रह, प्राणसाधना, वैराग्य, मन साधना, कुण्डलिनी जगाना तथा शून्य समाधि का वर्णन है। गोरख नाथ का हठ योग भक्तिकाल में कबीर का हठ योग है । हठयोग का तात्पर्य 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा है, अर्थात् सूर्य–चन्द्र को जाग्रत रखना है । हठ योग में मनकी शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है । इनकी कृतियों में षट चक्रों पर विशेष ध्यान है ।

नोलख पातरि आगे नाचे, पीछे सहज अखाड़ा।
ऐसे मन ले जोगी खेले, तब अंतरि बसे भंडारा ।।

यह मत जगत को अमूर्त मानता है।

अंजन माहि निरंजन भेटया, तिलमुख भेटया तेल ।।
मूरत माहि अमूरत परस्या, भया निरन्तर खेल ।

इनकी भाषा सिद्धों की भाषा थी । इसलिए नाथ सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म के वज्रयान, सहजयान शाखा से निकला हुआ मानते हैं ।

चर्पटनाथ – ये गोरखनाथ के शिष्य थे । जो बाह्य आडम्बारों को रखने वाले साधुओं को फटकारते थे ।

''इक सेति पटा, इक नील पटा । इक तिलक जनेऊ, इक लंबि जटा''।

ये जाति के ब्राह्मण होने के कारण बड़े आचार–विचार वाले योगी थे, किन्तु आडम्बर और पाखण्ड के विरोधी थे ।

चौरंगीनाथ – ये मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरु भाई थे । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बताया कि पंजाब की लोक कथाओं में पूरन भगत की कथा की चर्चा होती रही है । वे चौरंगी नाथ ही थे । ये पहुँचे हुए सिद्धयोगी थे । इनकी रचना ''प्राण सांकली'' है। अतः 13 वीं शताब्दी में नाथ सम्प्रदाय का प्रचार तेज गति से हुआ । इन्होंने अपनी रचना शैली को उपदेशपरक बनाकर संसार की माया और मोह का खण्डन किया । इनका रहस्यवाद आगे चलकर कबीर के काव्य में प्रकट होता है। हिन्दी साहित्य में नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव इस प्रकार रहा ।

1. बौद्धधर्म के प्रचार को कम करना, ईश्वरवाद में आस्था का प्रसार करना तथा अन्तःसाधना पर जोर देना ।
2. भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल आचरण कर जन जीवन में स्थान बनाना ।

3. योग क्रियाओं का समावेश कर के अनाचारी जीवन के प्रति वितृष्णा का भाव भरकर नाथों के जीवन को सदाचारी बनाना।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– ''नाथ सम्प्रदाय ने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी, जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिल गई।''

रासो साहित्य :–

आदिकाल में रासो ग्रंथ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी के प्रारम्भिक काल में निरन्तर एवं निर्बाध रूप से रासो लिखे गए । ''रासो'' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत प्रचलित है । फ्रांसीसी इतिहास कार गार्सा–द–तासी ने रासो शब्द की व्युत्पत्ति राजसूय से मानी है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ''रसायण शब्द'' से मानते हैं। शुक्ल के अनुसार बीसलदेव रासो में रसायण शब्द बार–बार आया है।

नरोत्तम स्वामी ने रसिक शब्द से तथा आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के 'रासक' शब्द से ही रासो की व्युत्पत्ति बताई है । द्विवेदी ने कहा रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है, रास में भी वही भाव है। वास्तव में रासो राजस्थानी भाषा (डिंगल) में राज्याश्रय कवियों (विशेष रूप से चारण जाति के कवियों) द्वारा युद्धों का चित्रण, वीरता के यशोगान को अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से धारा प्रवाह ओजस्वी भाषा शैली में लिखा गया काव्य है । आचार्य शुक्ल ने रासो ग्रंथों के आधार पर ही हिंदी साहित्य के प्रथम काल का नामकरण वीरगाथा काल के रूप में किया । वीरगाथा काल में प्राप्त रासो कृतियाँ खुमानरासो, हम्मीररासो, बीसलदेवरासो, परमालरासो, पृथ्वीराजरासो, विजयपालरासो हैं ।

खुमान रासो – आदिकाल की इस रचना का समय नवीं शताब्दी है । इसे चितौड़गढ़ नरेश खुमाण के समकालीन कवि दलपत विजय द्वारा रचित माना गया है, किन्तु कुछ विद्वान इसे 17 वीं शताब्दी की रचना मानते हैं । इसमें 17वीं शताब्दी के राजा राजसिंह का भी वर्णन है, लेकिन 870–890 के समय बगदाद के धर्मगुरु (खलीफा) आलमामू के द्वारा चितौड़ पर किए गए आक्रमण का भी वर्णन है । इससे ऐसा लगता है कि नवीं शताब्दी के बाद प्रक्षिप्त अंश बाद में जोड़े गए हैं । इसमें खुमान द्वारा खलीफा को परास्त करने का वर्णन है । वीररस के साथ–साथ श्रृंगार की धारा भी बही है । इसकी भाषा भी डिंगल है ।

संदेसा पिन साहिबा, पाछो फिरिय न देह ।
पंछी घाल्या पिंज्जरे, छूटण रो सन्देह ।।

हम्मीर रासो – कवि शाङ्र्गधर कृत हम्मीर रासो रणथम्भौर के राव हम्मीर देव के शौर्य की गाथा है । इसका समय 13वीं शताब्दी बताया जाता है । अलाउद्दीन खिलजी द्वारा 1301 में रणथम्भौर पर किए गए आक्रमण का वृतान्त बताया जाता है। प्राकृत पैंगलम में इसके कुछ छन्द मिलते है । इसकी कृति उपलब्ध नहीं है ।

बीसलदेव रासो – इस कृति के रचयिता कवि नरपति नाल्ह है । इसकी रचना कुछ विद्वानों ने विक्रम सं. 1272 मानी है, जिसका प्रमाण कृति में दिया है ।

बारह सौ बहोत्तराहा मंझाारि । जेठ बदी नवमी बुधिवारी ।।
नाल्ह रसायण आरम्भई । सारदा तूठी ब्रह्मकुमारी ।।

लेकिन अधिकतर विद्वान् वि. 1212 में इसके रचना काल स्वीकारते हैं। इसमे अजमेर के चौहान वंशीय राजा बीसलदेव का विवाह मालवा के राजा भोज परमार की पुत्री राजमती से हुआ, किन्तु राजमती और बीसलदेव में आपसी संवाद के कारण बीसलदेव राजमती को छोड़कर उड़ीसा चला गया । वह बारह वर्ष तक वहीं रहा । इस कृति में राजमती की विरहगाथा है ।

रानी राजमती नारी गरिमा से युक्त एक संस्कारित स्त्री है और बीसलदेव सामन्ती जीवन का अभिमानी राजा । इस काव्य की भावभूमि निश्छल प्रेम एवं नारी स्वाभिमान की भावना से ओतप्रोत है ।

परमाल रासो – कवि जगनिक कालिंजर (चंदेल राज्य) के राजा परमार्दिदेव का राज्याश्रयी कवि था। इसी के यहाँ बनाफर शाखा के दो क्षत्रिय वीर आल्हा और ऊदल रहते थे। इन दोनों वीरों की युद्ध में वीर गति को प्राप्त होने पर जगनिक कवि ने अद्भुत शौर्य गाथा को काव्य में लिखा । इसे आल्हा खण्ड के नाम से भी जानते हैं । इसकी रचना 13वीं शताब्दी की मानी जाती है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है ।

विजयपाल रासो – विजयपाल रासो को मिश्रबन्धुओं ने सं. 1355 का ग्रंथ माना है । जिसकी रचना कवि नल्हसिंह ने की है। इसमें राजा विजयपाल की विजय यात्राओं का वर्णन है। कुछ विद्वान इसे 16वीं शताब्दी की रचना मानते हैं । इसमे 42 छन्द मिलते हैं, किन्तु यह कृति अपूर्ण है ।

पृथ्वीराज रासो – वीरगाथा काल की सुप्रसिद्ध रचना चंदबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो एक विवादास्पद कृति है । पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण मिलते हैं । इससे यह पता लगाना कठिन है कि इनमें से प्रामाणिक ग्रंथ कौनसा है । पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर दो पक्ष है । एक पक्ष उसे पूर्णतया अप्रामाणिक मानता है। जिसके समर्थक है कविराज श्यामलदास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवी प्रसाद, डॉ. बूलर और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, किन्तु रामचन्द्र शुक्ल इसे वीरगाथा काल की रचना मानते हुए इसके महत्त्व को नकार नहीं सके। इन्होंने तो चंदबरदायी को हिंदी का पहला कवि और पृथ्वीराज रासो को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना है । दूसरा पक्ष वह है जो इसे प्रामाणिक मानते हैं इस मत के समर्थक है बाबू श्यामसुन्दर दास, पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, मथुरा प्रसाद दीक्षित, मिश्रबन्धु तथा कर्नल टॉड है तथा तीसरा पक्ष पृथ्वीराज रासो को अर्द्ध प्रामाणिक मानता है। इस सम्बन्ध में आधुनिकतम एवं ठोस मत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का है । ये इसे अर्द्ध प्रामाणिक मानते हैं । द्विवेदी का मत है कि रासो की संवाद शैली अन्य रासो ग्रंथों यथा सन्देशरासक से मिलती है। रासो में बारहवीं शताब्दी की भाषागत प्रवृत्तियाँ मिलती है । यह शुद्ध ऐतिहासिक न होकर काव्य ग्रंथ है । रासो में वे सर्ग प्रामाणिक है जिनका प्रारम्भ शुक–शुकी संवाद से होता है। ये प्रामाणिक अंश बाद में जोड़े गये हैं । चन्दबरदायी ऐसे सहज प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं जो विषम परिस्थितियों में भी जीवन रस सींचते रहते हैं। अतः द्विवेदी ने लिखा है कि पृथ्वीराज रासो एकदम अप्रमाणिक पुस्तक नहीं है। इसकी कुछ प्रामाणिकता

प्राप्त होती है जैसे आरम्भिक अंश, इच्छिनी विवाह शशिव्रत का गन्धर्व विवाह, संयोगिता का जन्म–विवाह इस प्रकार पृथ्वीराजरासो की कथा ऐतिहासिक है। चंदबरदायी चौहान वंशीय पृथ्वीराज चौहान के प्रिय सखा एवं दरबारी कवि थे । जब शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज को बंदी बनाकर गजनी ले गया तब पृथ्वीराज चौहान को बचाने के लिए चंदबरदायी स्वयं भी साथ गये और शब्दवेदी बाण चलाने में कुशल पृथ्वीराज का कौशल गजनी में दिखाया । इस शब्दवेदी बाण के पश्चात् दोनों मित्रों ने वहीं प्राण त्याग दिए । इसमें पृथ्वीराज की वीरता शौर्य एवं पराक्रम का सुन्दर चित्रण है । इस कारण यह महाकाव्य की श्रेणी में आता है । कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के साथ जाते समय अपने इस ग्रंथ को पुत्र जल्हण के हाथ में सौंप गए थे।**"पुस्तक जल्हण हत्थ दे, चलि गज्जन नृप काज।"**

आदिकाल की अन्य रचनाएँ एवं कवि –

सन्देशरासो – सन्देशरासो के रचयिता अब्दुर्रहमान (अद्हमाण) है । यह अपभ्रंश का महाग्रंथ है । इसमें ऐतिहासिकता के साथ–साथ साहित्यिक छटा भी बिखरी पड़ी है । सन्देश रासो में हृदय की मर्मवेदना का चित्रण है। इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथ साहित्य के अन्धकार में एक ज्योति का कार्य करते हैं । यह वीररस के काव्यों से भिन्न परम्परा का रासो है। इसमें विरहिणी के वियोग की मार्मिकता है। एक विरहिणी एक पथिक के साथ अपने पति के पास सन्देश भेजती है । द्विवेदी लिखते है कि इस सन्देश में ऐसी करुणा है, जो पाठक को बरबस आकृष्ट करती हैं। इसमें कुल 216 छन्द है ।

प्राकृत पैंगलम – इस ग्रंथ के संकलनकर्ता लक्ष्मीधर है । इसमें आदिकालीन साहित्य का स्वरूप दिखाई देता है । इसमें विद्याधर, शार्ङ्गधर, जज्जल एवं बब्बर आदि कवियों की रचनाओं का संग्रह है । विद्याधर काशी में कान्यकुब्ज दरबार के एक बहुत ही कुशल एवं विद्वान मंत्री थे। यह जयचन्द के विश्वास पात्र मंत्री थे । दूसरा महत्त्वपूर्ण कवि शार्ङ्गधर है इन्होंने एक सुभाषित ग्रंथ की रचना की जो शार्ङ्गधर पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है । शुक्ल जी ने इसी शार्ङ्गधर के द्वारा रचित हम्मीर रासो की चर्चा की है । तीसरा महत्त्वपूर्ण जज्जल नाम कवि है। 'जज्जल भणइ' पद से राहुल जी इसे जज्जल कवि की रचना माना हैं ।

"हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमद जलउ"

चौथा महत्तवपूर्ण कवि बब्बर है । यह 11वीं शताब्दी का कवि है। यह राज कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे । इसका निवास स्थान त्रिपुरी था । इनका कोई विशिष्ट ग्रंथ नहीं मिलता है । प्राकृत पेंगलम एक प्रामाणिक ग्रंथ है । इसलिए आदिकाल हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति का अध्ययन करने के लिए इसका अत्यधिक महत्त्व है ।

ढोला–मारू रा दूहा :– यह 11वीं शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है । कवि कुशललाभ द्वारा रचित राजस्थानी भाषा का एक प्रेमाख्यान काव्य है । इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राजकुमारी की प्रेम कथा है । कछवाह वंश का राजा नल का पुत्र ढोला जिस समय तीन वर्ष का था और पूंगल के राजा पिंगल की कन्या मारवणी डेढ़ वर्ष की थी तब ही दोनों का विवाह हो गया । ढोला के युवा होने पर उसका विवाह मालवा की राजकुमारी

मालवणी से हो जाता है। मारवणी अर्थात् मारू ढाढ़ियों (गाँव–गाँव में जाकर गीत गाने वाली एक प्रकार की जाति) के साथ ढोला तक सन्देश पहुँचाती है। तब ढोला अपनी मारवणी (मारू) को लेने के लिए पूंगल देश जाता है और तब मारू से मिलन होता है। 'ढोला–मारू रा दूहा' आज भी अत्यधिक लोकप्रिय है। यह श्रृंगार रस का काव्य है । इसमें भाव गाम्भीर्य और राजस्थानी भाषा का परिष्कृत रूप देखने को मिलता है । साहित्य में यह उक्ति प्रचलित है ।

सोरठियो दूहो भलो, भति मरवण री बात ।
जोवन छाई धण भली, तारां छाई रात ।।

खुसरो की पहेलियाँ – खुसरो का वास्तविक नाम अबुल हसन था । खुसरो इनका उपनाम था । इनका जन्म गाँव पटियाली जिला एटा में हुआ । इनका समय गुलाम वंश से लेकर तुगलक वंश तक का रहा है । ये विनोदी स्वभाव, मिलनसार एवं उदार व्यक्ति थे । इनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं थी । निजामुद्दीन औलिया इनके गुरु थे । इनको गुरु औलिया की मृत्यु के समाचार मिले तो उनकी कब्र के पास पहुँचे और कहा –

गौरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ।।

इनके पास जो कुछ था सब लुटा दिया और स्वयं अपने गुरु औलिया की मजार के पास बैठ गए । इनकी मृत्यु पर इनकी कब्र भी औलिया की कब्र के पास ही बनाई गई । खुसरो को अरबी, फारसी, तुर्की एवं हिंदी का अच्छा ज्ञान था । इन्होंने खालिकबारी, पहेलियाँ लिखीं जो लोक साहित्य में बहुत प्रचलित हुईं । खुसरो की पहेलियाँ हिंदी साहित्य का अनमोल रत्न है ।

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती इससे एक न गिरा (आकाश)
खेत में उपजे सब कोई खाये, घर में उपजे घर को खाये (फूट)
पाँचों के सिर काट दिये, न मारा, ना खून किया (नाखून)

विद्यापति :– आदिकाल के विशिष्ट कवि मैथिल कोकिल विद्यापति का जन्म बिहार के दरभंगा जिले के गाँव विसपी में हुआ । ये तिरहुत के राजा शिवसिंह के आश्रित कवि थे । महाराज शिवसिंह तथा उनकी रानी लखिमा देवी शैव मत की अनुयायी थीं । विद्यापति भी शिवभक्त थे । इनके बहुमुखी व्यक्तित्व में पांडित्य, कला, साहित्य, रसिकता, भावुकता का अद्भुत समन्वय है । इन्हीं गुणों के कारण महाराज शिवसिंह ने इन्हें अपना सखा व सभा–कवि बनाया । विद्यापति ने अपने आश्रयदाता की वीरता पर कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका नामक दो ग्रंथ लिखे । इसमें वीररस के साथ–साथ कहीं–कहीं श्रृंगार की छटा भी दिखाई देती है । इन कृतियों में अपभ्रंश के स्थान पर अवहट्ठ भाषा का प्रयोग किया गया ।

अतः यह दोनों अवहट्ठ भाषा के ग्रंथ है । कहते हैं कि रानी लाखिमा देवी के कहने पर इन्होंने राधा–कृष्ण की भक्ति के रूप में 'विद्यापति पदावली' की रचना की है । इसमें माधुर्यभाव भरा संगीत है । इसी कारण इनको ''अभिनव जयदेव'' भी कहते हैं । विद्यापति पदावली को कई

विद्वान भक्तिरस की न मानकर श्रृंगारिक मानते हैं । श्रृंगारिक कवि मानने वाले विद्वानों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामवृक्ष, बेनीपुरी, डॉ. रामकुमार वर्मा । इनका एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

कामिनी करए सनाने, हेर तहि हृदय हनए पंचबाने ।

चिकुर गरए जलधारा, जनिमुख सनि उर रोअए अंधारा ।।

इसे देखकर डॉ. रामकुमार वर्मा कहते हैं, विद्यापति के बाह्‌य संसार में भगवत भजन कहाँ, इस वयः संधि में ईश्वर कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, अभिसार में भक्ति का सार कहाँ ? किन्तु कुछ विद्वान इनको भक्त कवि मानते हैं । बाबू श्यामसुन्दर दास, पंडित हरप्रसाद शास्त्री, पंडित शिवनन्दन ठाकुर प्रो. जनार्दन मिश्र तथा हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक एवं भक्ति साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विद्यापति की चर्चा भक्त कवियों के प्रसंग में की है ।

उनकी पदावली को धर्मग्रंथ एवं भक्ति साहित्य में नई प्रेरणा देने वाला माना है । बंगाल, असम एवं उड़ीसा के वैष्णव भक्तों का यह विशेष प्रिय ग्रंथ रहा है ।

जय जय शंकर, जय त्रिपुरारी ।

जय अध पुरुश, जयति अधनारी ।।

कहते हैं– चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के पद गाते–गाते बेहोश होकर गिर जाते थे । इसलिए तो विद्यापति की पदावली चैतन्य सम्प्रदाय में धार्मिक ग्रंथ के समान पूजित है । पूर्वी भारत में वैष्णव सम्प्रदाय में विद्यापति के पदों का भक्तिपरक भजनों के रूप में ग्रहण होना भक्ति भावना का प्रमाण है । विद्यापति आदिकाल के उत्तरार्द्ध में संक्रांति काल के कवि होने के कारण विगत और अनागत युगों के साहित्य का सहज प्रतिबिम्ब इनके काव्य में परिलक्षित होता है।

आदिकाल का गद्यसाहित्य –

आदिकाल के साहित्य में गद्य रचना बहुत लिखी जाती थी, किन्तु कुछ कवियों ने गद्य –पद्य (चम्पूकाव्य) साहित्य लिखकर साहित्य के खजाने को अद्‌भुत रत्न दिए हैं । इनमें प्रमुख रोड़ा नामक कवि कृत ''राउलवेल'' (यह गद्य और पद्य का मिश्रित रूप चम्पू रचना है) दामोदर कृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्ण रत्नाकर' गद्य की कृतियाँ हैं ।

राउलवेल – इसका रचना काल 10वीं शताब्दी माना जाता है । यह गद्य–पद्य मिश्रित (चम्पूकाव्य) की प्राचीनतम कृति है । इसमें राउल नामक नायिका के नख–शिख वर्णन का प्रसंग है । पहले सौन्दर्य का पद्य में वर्णन किया बाद में गद्य में इसे वर्णित किया । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार ''इसी काल में हिन्दी में नख–शिख श्रृंगार आरम्भ होता है । इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है।''

उक्ति व्यक्ति प्रकरण – महाराज गोविन्दचन्द का शासन काल 12वीं शताब्दी में रहा था। इनके सभा पण्डित दामोदर शर्मा ने 12वीं शताब्दी में इस ग्रंथ की रचना की । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ''उक्ति–व्यक्ति'' प्रकरण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । इसमें गद्य और पद्य दोनों शैलियों में तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इससे बनारस और आस–पास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रभाव पड़ा है । हिन्दी व्याकरण पर भी इस समय ध्यान दिया जाने लगा।''

वर्ण रत्नाकर – इस ग्रंथ का प्रकाशन डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के सम्पादन में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से हुआ । यह 14वीं शताब्दी की रचना है । इसके लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर नामक मैथिली कवि है । इसकी भाषा आलंकारिक एवं कवित्वपूर्ण है। नायिका का वर्णन भी तत्सम शब्दावली में किया है। **''उज्ज्वल कोमल लोहित सम संतुल सालंकार पंचगुण सम्पूर्ण चरण''** इस प्रकार हिन्दी गद्य की ये प्रमुख कृतियों का हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है । तब से गद्य रचना का प्रवाह अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रहा है ।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ –

हिन्दी साहित्य में किसी काल की प्रवृत्तियाँ उसके उपलब्ध साहित्य सामग्री के आधार पर निर्धारित की जाती हैं । उस समय की साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इस काल के साहित्य की क्या विशेषताएँ रही हैं । आदिकाल भाषा की दृष्टि से संक्रान्ति काल रहा है और भावों की दृष्टि से आध्यात्मिक तथा चरित्र प्रधान काव्य एवं बाद में वीररस व श्रृंगारिक रस से युक्त रहा । सातवीं शताब्दी का काल अपभ्रंश साहित्य का अभ्युदय काल था, किन्तु अपभ्रंश में भी धीरे–धीरे अवहट्ठ या पुरानी हिंदी का समावेश हो रहा था, जिसके कारण यह परिनिष्ठित अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का रूप धारण कर रही थी फिर भी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपना रूप लिए हुए थीं। अतः प्रमुख प्रवृत्तियों का निरूपण करते हैं तो अनेक प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं।

1. **वीरगाथात्मक काव्य रचनाएँ** :– आदिकालीन साहित्य में वीरगाथाओं का विशेष प्रचलन था,जिसमें कवि अपने आश्रयदाताओं की वीरता साहस, शौर्य एवं पराक्रम को अतिरंजित बनाकर प्रस्तुत करते थे। युद्धों का सजीव चित्रण किया जाता था। इन युद्धों का कारण नारी सौन्दर्य या साम्राज्य विस्तार की लालसा रहती थी । राज्यों को विजय करके अपने साम्राज्य में मिलाना एवं शक्ति का विस्तार करना था। आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए कविगण उनकी प्रशंसा को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित करते थे। इस काल का रासो साहित्य इसका प्रमाण है। इसलिए रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा ।
2. **युद्धों का वर्णन** – आदिकालीन साहित्य से प्रतीत होता है कि राजा का प्रजा पर ध्यान कम और अपने साम्राज्य विस्तार का ध्यान ज्यादा रखता था, जिसके कारण आए दिन युद्ध के बिगुल बज उठते थे । तत्कालीन कवियों ने काव्यों में युद्धों का सजीव वर्णन करके जनसमूह में एक चेतना प्रकट की और कहा युद्ध यदि आवश्यक है तो करना चाहिए । युद्ध के समय सेना में ओजस्वी और वीररस के भावों से कवि सैनिकों में जोश एवं उत्साह भर देते थे ।
3. **संकुचित राष्ट्रीयता** :– आदिकाल के चारण कवियों द्वारा आश्रयदाताओं की स्तुति तथा प्रशंसा इस प्रकार की गई कि देशद्रोही जयचंद का भी गुणानुवाद कर दिया। जयचंद की प्रशंसा में 'जयचंद प्रकाश' (भट्ट केदार कृत) तथा 'जयमंयक जस चन्द्रिका' (मधुकर कवि कृत) नामक ग्रंथ लिखे । उस समय राष्ट्र का मतलब एक राजा या सामन्त की राज्य सीमा थी, जिसे वह अपना मानते थे । सम्पूर्ण भारत को राष्ट्र नहीं समझा गया । इसी कारण पृथ्वीराज चौहान को शहाबुद्दीन गौरी ने परास्त किया।

4. **लोकभाषा साहित्य** – सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी की अपभ्रंश लोक–भाषा के रूप में प्रचलित रही । इस समय के सिद्धाचार्यों जैनाचार्यों एवं नाथ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने लोक भाषा में ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की । जिसमें कर्मकाण्ड, आडम्बर व ब्राह्मण मत का विरोधी स्वर उभरकर आया और जनता में नई चेतना जाग्रत हुई । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा – ''साहित्य में प्रधान रूप से इस समय का साहित्य धार्मिक है, इसमें सहज जीवन पर, आन्तरिक शुचिता पर और सच्चाई के जीवन पर अधिक जोर दिया गया।''

5. **वीर और श्रृंगार रस का समन्वय** – इस समय की साहित्यिक रचनाओं से ज्ञात होता है कि कवि वीररस और श्रृंगार रस को साथ–साथ लिख रहे थे । इस समय के कई युद्ध साम्राज्य विस्तार के साथ नारी सौन्दर्य की लालसा में भी लड़े गए थे । रणथम्भौर का युद्ध 1301 ईस्वी. में राव हम्मीर और अलाउद्दीन खिलजी के बीच हुआ । 'हम्मीर रासो' और 'खुमान रासो' में भी वीररस के साथ श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है । पृथ्वीराज रासो में भी नारी सौन्दर्य का चित्रण है । बीसलदेव रासो में तो विप्रलम्भ श्रृंगार का सुन्दर निर्वाह किया गया है। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' वीररस की कृति है, तो 'विद्यापति पद्यावली' में अद्भुत नारी सौन्दर्य की छटा दिखाई देती है ।

6. **ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना की प्रधानता** – राज्याश्रित कवियों का लक्ष्य राजा की प्रशंसा करना था । उनकी दृष्टि में ऐतिहासिकता गौण थी। वे अपनी प्रतिभा को मात्र पोषित करते थे प्रकट नहीं । इसलिए उनके कवित्व के प्रदर्शन में केवल उनका स्वार्थमय जीवन निर्वाह का उद्देश्य रहता था । राजा को कल्पना लोक में विचरण कराते रहते और वास्तविकता से दूर रखते थे तथा अतिशयोक्ति युक्त वर्णन करके आश्रयदाता को प्रसन्न रखते थे, यही इन कवियों का उद्देश्य था।

7. **प्रबन्ध एवं मुक्तक गीत** – आदिकालीन काव्य दो रूपों में मिलता है । पहला प्रबन्ध काव्य जो चरित काव्य के रूप में चित्रित होते थे जैसे :– जैन साहित्य में चरित काव्यों की परम्परा रही है तथा प्रबन्ध काव्य वीरगाथा के रूप में पृथ्वीराज रासो तथा दूसरा मुक्तक गीति काव्य 'बीसलदेव रासो' वर्णित है ।

8. **डिंगल भाषा युक्त काव्य** – आदिकाल को शुक्ल जी ने वीरगाथा काल इसी डिंगल भाषा में रचित रासो साहित्य के कारण कहा है । इस काल में राजस्थानी भाषा में जो साहित्य रचा गया वह डिंगल भाषा का साहित्य है ।

इस प्रकार आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों में सिद्धों की वाणी, जैनाचार्यों के चरित काव्य, धार्मिक सिद्धान्त, साधनापद्धति, वीर एवं श्रृंगार रस से युक्त प्रबंध एवं मुक्त गीति काव्य, अपभ्रंश, अवहट्ठ एवं डिंगल भाषा में रचित काव्य है । इसमें दोहा, सोरठा छन्द का बाहुल्य है, जिसका उद्देश्य लोकचेतना, लोकरंजन तथा लोकोन्मुख रहा है, जिसमें फागु, चर्चरी, खुसरो की पहेलियाँ आदि तथा रासो काव्यों में युद्धों का चित्रण तथा श्रृंगार रस (संयोग और वियोग) विशेष रूप से विप्रलंभ 'बीसलदेव रासो' एवं 'सन्देश रासो' में देखने को मिलता है । छन्दों में दोहा और सोरठा के साथ छप्पय, अरिल्ल, उल्लाला का प्रयोग हुआ ।

आदिकालीन साहित्य का युगीन परिवेश –

आदिकालीन साहित्य की तत्कालीन परिस्थितियाँ साहित्य को पूर्ण रूप से प्रभावित कर रही थी । यह सत्य है कि साहित्य समाज का दर्पण है । उसकी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है, क्योंकि साहित्यकार उसी युगीन परिवेश को अपने काव्य में उतारता है । इस समय का धार्मिक सामाजिक व राजनीतिक वातावरण पूर्ण रूप से दूषित हो गया था । हर्षवर्द्धन के शासन काल के पश्चात् विदेशी शक्तियों के आक्रमणों ने हिन्दू संस्कृति को झकझोर दिया। इस कारण समाज जातिवाद, धर्मवाद एवं विभिन्न मत मतान्तरों से समाज बँट गया था । क्षत्रियों में वीरता एवं बलिदान की प्रतिस्पर्धा हो रही थी। उसका प्रभाव समाज की मर्यादा पर भी पड़ रहा था । नारियाँ युवावस्था में ही विधवा हो जाती थीं । पुनर्विवाह की परम्परा नहीं थी । नारियाँ भी मरण को वरण करने के लिए तैयार रहती थीं, इसीलिए पति की मृत्यु के बाद जौहर कर लेती थीं । नारी केवल भोग्य समझी जाती थी। इसीलिए राजाओं में बहुविवाह परम्परा पनप चुकी थी । इस समय बार–बार युद्ध होने के कारण जन–धन की हानि होती थी, जिससे आर्थिक दशा खराब होने के कारण समाज के लिए घातक थी। जनता असहाय, पीड़ित एवं दुःखी रहती थी । धर्म के नाम पर आडम्बरों और पाखण्डों का बोलबाला हो गया । बौद्धधर्म भी हीनयान–महायान, वज्रयान सहजयान आदि विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त होकर कर्मकाण्डों से युक्त हो गया । जैन सम्प्रदाय भी वाममार्गी उपासना पद्धति से दूर नहीं रह सका । वैष्णव धर्म में अनेक सम्प्रदायों ने अपनी जगह बना ली और शैव, शाक्त आदि यौगिक क्रियाओं से चमत्कार दिखाकर समाज को भ्रमित कर रहे थे । इसलिए धर्म में अत्यधिक वितण्डावाद का बोलबाला था। अशिक्षित जनता उनके जाल में फँस जाती थी । दूसरी तरफ इस्लामी शक्तियाँ आक्रमण करके हिन्दुओं के मन्दिर एवं मूर्तियों को ध्वस्त कर रही थी । जिससे हिंदू जनता में ईश्वर के नाम से विश्वास उठ गया था । इसी समय दक्षिण के संत शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि अपने दार्शनिक मतों के द्वारा आस्था बनाए रखने का सन्देश देते हुए धार्मिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में जोड़ रहे थे । इन्हीं परिस्थितियों में सिद्धाचार्यों ने अपना धार्मिक दर्शन भी व्यक्त किया । यह अंतःसंघर्ष का समय था । इस समय भाषा में भी संक्रांति काल चल रहा था । अपभ्रंश के स्थान पर परिनिष्ठित अपभ्रंश जो संस्कृत भाषा के प्रभाव के कारण तत्सम शब्दावली युक्त बन रही थी । 10वीं से 12वीं शताब्दी तक का काल संस्कृत साहित्य के लिए अनुपम योगदान का काल रहा । इस युग में साहित्यकार दण्डी, राजशेखर, भवभूति, कल्हण, जयदेव, कुन्तल एवं सोमदेव जैसे संस्कृत के आचार्य थे, जिनका प्रभाव काव्य कला एवं भाषा की दृष्टि से तत्कालीन हिंदी साहित्य के रचनाकारों पर भी पड़ रहा था। इस समय हिंदी भाषा की एक उपभाषा राजस्थानी में चारण एवं भाट कवियों ने रासो काव्य लिखना प्रारम्भ किया । रासो में ओजगुण व वीररस युक्त शब्दावली होने के कारण यह जनप्रिय बन गई। रासो में वीररस के साथ–साथ श्रृंगारिक भावों को भी स्थान दिया गया। रासो इस युग का सबसे लोक प्रिय ग्रंथ है । इस प्रकार हिन्दी भाषा के क्षेत्र में राजस्थानी (डिंगल) तत्सम शब्दावली (संस्कृत शब्द) तथा इस्लामी सम्पर्क होने के कारण अरबी, फारसी व तुर्की के शब्दों का प्रयोग होने लगा । हिन्दी में अमीर खुसरो की पहेलियों में इनका प्रयोग देखा गया है। अतः आदिकाल में आपसी राज्यों का अंतः संघर्ष धार्मिक मत–मतान्तरों का संघर्ष तथा भाषा भी संक्रमणता से युक्त

रही तथा इस संघर्ष के काल में विभिन्न प्रकार की साहित्यिक प्रवृतियां इस युग की विशेषताएँ बनकर रहीं।

उपसंहार – हिन्दी साहित्य का आदिकाल प्रारम्भ से लेकर अंत तक विविधताओं से युक्त है । यह हिन्दी साहित्य की बुनियाद है । इस काल की भाषा से लेकर काव्य सौन्दर्य तक ने परवर्तीकाल के साहित्यकारों को प्रभावित किया है । वीर और श्रृंगार रस की अद्‌भुत छटा है । वीर रस का ओजस्वी गुण तो इतना अद्वितीय रहा कि परवर्ती काल के कवियों में मात्र भूषण में जाकर दिखाई दिया है । विद्यापति की पदावली भक्ति काव्य है या श्रृंगारिक इसका निर्णय तो अभी तक अनिर्णीत है । खुसरो की पहेलियाँ इसके बाद के साहित्य में दिखाई नहीं देती । ढोला–मारू का प्रेमाख्यान सूफी कवियों में परिलक्षित होता है । सिद्धाचार्यों व नाथ सम्प्रदाय की योग साधना कबीर में तथा अद्‌वैतवाद, विशिष्टाद्‌वैत के मर्म को सूर–तुलसी ने आत्मसात किया तो मीरा ने माधुर्यभाव की भक्ति को अपनाया । आदिकाल के राष्ट्रप्रेम को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद एवं निराला ने अपने काव्य में स्थान दिया । तो अपभ्रंश कालीन बौद्धमत से प्रभावित महादेवी वर्मा के काव्य में करुणा की धारा प्रवाहित हुई । अतः आदिकाल अनेक गुणों से युक्त था । उसकी प्रवृतियाँ अन्य कालों में विकसित रूप से परिलक्षित होती हैं ।

अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संस्कृत भाषा से सबसे पहले किस भाषा की उत्पत्ति हुई ?
   (क) अपभ्रंश (ख) प्राकृत (ग) पाली (घ) हिन्दी
2. अपभ्रंश किस भाषा से निकली हुई भाषा है ।
   (क) संस्कृत (ख) पाली (ग) प्राकृत (घ) अवहट्‌ठ
3. पाली भाषा किस समय थी ?
   (क) ईसा पूर्व 1500 से 500 तक (ख) ईसा पूर्व 500 से पहली शताब्दी तक
   (ग) ईसा बाद 500 से 1000 तक (घ) ईसा बाद 1000 से 500 तक
4. वेदांग कितने हैं ?
   (क). पांच (ख) चार (ग) तीन (घ) छह
5. न्याय दर्शन के रचयिता कौन हैं ?
   (क) महर्षि गौतम (ख) महर्षि पंतजलि (ग) महर्षि कणाद (घ) शंकराचार्य
6. राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी का पहला कवि किसे माना है ?
   (क) पुष्यदन्त (ख) सरहपाद (ग) शालिभद्रसूरि (घ) हेमचन्द्र

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी साहित्य को कितने भागों में विभाजित किया है ?
2. 'कीर्तिपताका' किस भाषा की कृति है ?

3. चंदबरदाई की रचना का नाम लिखिए।
4. परमाल रासो के रचयिता का नाम बताइए।
5. गार्सा–द–तासी के हिंदी इतिहास का नाम लिखिए ।
6. शिवसिंह सरोज के रचयिता का नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी का पहला कवि किसे माना और क्यों ?
2. शुक्ल जी द्वारा काल विभाजन का समय एवं काल का नाम बताइए।
3. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने वीर गाथा काल को आदिकाल क्यों कहा ?
4. किन्हीं दो जैनाचार्यों के नाम एवं उनकी रचनाएँ लिखिए ।
5. नाथ सम्प्रदाय की दो विशेषताएँ बताइए ।
6. रासो को वीररस की कृति क्यों माना जाता है ?

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. शौरसेनी अपभ्रंश से निकलने वाली बोलियों एवं उपभाषाओं का परिचय दीजिए।
2. आदिकाल की विशेषताएँ बताइए ।
3. प्रमुख सिद्धाचार्यों की रचनाओं की विशेषताएँ बताइए ।
4. आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर लेख लिखिए ।
5. शुक्ल जी ने प्रथमकाल को वीरगाथा किन रचनाओं के आधार पर कहा और क्यों ?

•••